जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 1 • जनवरी, 2006

With best compliments from :

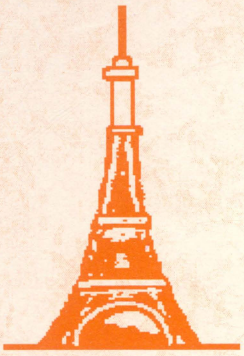

Fashion Paris™
Trousers & Shirts

Fashion Adventure™
Jeans & Casuals

Kiran Chand Kundlia
Prakash Kundlia
Mob : 98441 02993

FASHION ADVENTURE

4/7, 2nd floor, 1st Cross
Annipura, Near K.H. Double Road
Sudhamanagar, Bangalore 560027

Tel : 91-80-22273327, Mob : 9341965313
Telefax : 91-80-22485022
e-mail : fashion adventure@vsnl.net108

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 ● जनवरी, 2006 ● अंक 1

विमर्श

9
डॉ. गोविंदचंद्र पांडे
भारत की चिरंतन सांस्कृतिक एकता

13
महात्मा गांधी
ज्ञानकेंद्र : नैतिक आकर्षण के स्थल हों

अनुभूति

19
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं

25
पांडुरंग सदाशिव साने
मोक्ष और कर्म : एक विवेचन

32
कहानी
रामनारायण शुक्ल
सहारा

36
कविता
कुंवर नारायण की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
विचार और साधना

शीलन

39
साध्वी ललितरेखा 'खाटू'
स्वस्थ शरीर के लिए मानसिक स्वास्थ्य

46
ज्योति पाटणकर
इदं सर्वम् ईशावास्यम्

49
बालकथा
साध्वी कल्पमाला
चिड़िया और चुहिया की दोस्ती

●
आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

वचन नहीं, वक्ता प्यारा होता है

रोयट में स्वामीजी ने शालिभद्र का व्याख्यान दिया। सो, भाई उसे सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। वे बोले—'स्वामीनाथ! पहले भी शालिभद्र का व्याख्यान बहुत बार सुना है, पर इस बार जैसा सुना, वैसा कभी नहीं सुना।'

तब स्वामीजी बोले—'व्याख्यान तो वही है, पर कहने वाले के मुंह का अंतर है।'

जगह तो परिग्रह है

किसी ने स्वामीजी से पूछा—'पौषध करने वाले को स्थान दिया, उसको क्या हुआ?'

तब स्वामीजी बोले—'उसने कहा—'मेरी जगह में पौषध करो', यह कहने वाले को धर्म होता है।'

तब फिर पूछा—'जगह दी, उसमें क्या हुआ?'

तब स्वामीजी बोले—'क्या उसने जगह सदा के लिए दे दी? उसने अपनी जगह में पौषध करने की स्वीकृति दी, वह धर्म है। जगह तो परिग्रह है, उसके सेवन करने और कराने से धर्म नहीं होता। सामायिक और पौषध की स्वीकृति देता है, वह धर्म है।'

फिर मार्ग क्या पहिचाना?

अल्प कर्म वाले जीव झूठे गुरु को छोड़ सच्चे गुरु को स्वीकार करते हैं, तब अन्य संप्रदाय के साधु और उनके श्रावक कहते हैं—'पाली में विजयचंद पटवा लोगों को रुपए देकर श्रावक बनाता है।'

तब स्वामीजी बोले—'तुम्हारे श्रावक रुपयों के बल पर अपना धर्म बदल लेते हैं, तब उन्होंने तुम्हारा मार्ग क्या पहिचाना? तुम कहते हो कि वे रुपयों के बल पर दूसरे धर्म में चले जाते हैं तो शेष लोग भी रुपयों के बल पर दूसरे धर्म में चले जाएंगे। इससे लगता है, तुम्हारे श्रावकों ने तुम्हारे मार्ग को नहीं पहिचाना।' ●

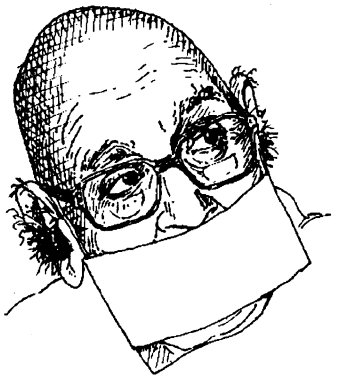

सामाजिकता वहीं स्वस्थ हो सकती है, जहां सामुदायिक जीवन के प्रति निष्ठा हो। वैयक्तिक स्वतंत्रता का बहुत महत्त्व है, पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधनों का स्थान बहुत नीचा होना चाहिए। वैयक्तिकता केवल धर्म की साधना के लिए ही उपयुक्त है। लगता है, इस क्षेत्र में उलटी गंगा बह रही है। आत्म-साधना के क्षेत्र में जहां वैयक्तिकता होनी चाहिए, वहां सामुदायिकता हो रही है। वहां आदमी सोचता है कि जब सब लोग सदाचार का पालन नहीं करते, तब मैं अकेला ही क्यों करूं? समाज के क्षेत्र में जहां सामुदायिकता होनी चाहिए, वहां व्यक्ति का चिंतन यह होता है कि मैं दूसरों की किन-किन की चिंता करूं, मुझे अपनी रोटी पका लेनी चाहिए।

—आचार्यश्री तुलसी

व्यक्ति के समक्ष आत्मा और शरीर—ये दो तत्त्व हैं। प्रश्न है कि इन दोनों में से अधिक ध्यान देने योग्य कौनसा तत्त्व है? भौतिकवादी लोगों के लिए शरीर-सुरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकती है, पर अध्यात्म की दृष्टि यह है कि आत्मा सुरक्षणीय हो। शरीर की सुरक्षा तो तभी तक अपेक्षित है, जब तक वह आत्माराधना किंवा मोक्षाराधना में सहयोगी बनता है। जिस दिन उसकी यह उपयोगिता समाप्त प्रतीत हो जाए, उस दिन से उसकी सुरक्षा/सार-संभाल की बात भी समाप्त कर देनी चाहिए। पर आत्मा तो क्षण-क्षण में रक्षणीय है, हर स्थिति में रक्षणीय है। दसवेआलियं आगम की दूसरी चूलिका में कहा गया है—

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ।।

—सब इंद्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ यानी जन्म-मरण को प्राप्त होती है, जबकि सुरक्षित आत्मा सभी प्रकार के दुखों से मुक्त हो जाती है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

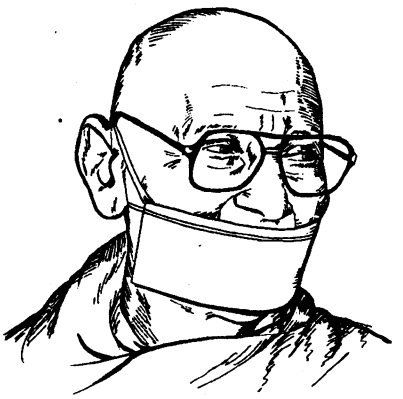

क्या संपन्न देशों में हिंसा नहीं है? यदि हम संपन्नता के साथ अहिंसा की व्याप्ति स्वीकार कर लेते हैं तो बहुत बड़ी भ्रांति को जन्म देते हैं। संपन्नता से जो विपन्नताजनित हिंसा होती है—केवल वही कम हो सकती है। जबकि हिंसा का मूल उपादान है—व्यक्ति का मस्तिष्क। उसे बदले बिना अहिंसा की उम्मीद नहीं की जा सकती। पहले विकल्प उठता है, फिर क्रिया होती है। पहले विचार पैदा होता है, फिर उसका आचरण होता है। विचार का उद्भव मस्तिष्क में होता है। जब तक मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं किया जाता तब तक अहिंसक समाज-रचना की बात सार्थक नहीं हो सकती।

अहिंसक समाज-रचना के संदर्भ में बहुत प्रयोग चले हैं। भूदान और संपत्तिदान का प्रयोग चला। संपन्न राष्ट्र विपन्न राष्ट्रों के लिए करोड़ों रुपयों का सहयोग करते हैं। क्या हिंसा में कमी आई? इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक भाषा में नहीं दिया जा सकता। हमें स्वीकार करना होगा कि हिंसा का सबसे बड़ा स्रोत हमारा दिमाग है। जब तक मस्तिष्क का प्रशिक्षण नहीं होता, तब तक हम हिंसा को कम नहीं कर सकते। सामाजिक और वैयक्तिक—दोनों क्षेत्रों पर ध्यान देना होगा। एक ओर विपन्नता को कम करने के प्रयोग चलते हैं, दूसरी ओर न्यायोचित बंटवारे की उपेक्षा हो रही है। यह केवल पत्तों को सींचने का ही प्रयत्न है। सबसे बड़ी मांग है—न्यायोचित व्यवस्था, बंटवारे में समानता।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

विचार और साधना

कभी यह माना जाता था और सच भी है कि शब्द की सामर्थ्य अपार रही है। एक शब्द से वारे-न्यारे हो जाते थे। शब्द आज अपनी सामर्थ्य खोता जा रहा है, अब वह क्षमता उसमें नहीं रही। शस्त्र में जो क्षमता हम देखते हैं, उससे कहीं अधिक क्षमता शब्द में रही है। इसीलिए शस्त्र और शास्त्र को किसी स्तर पर एक ही कोटि में रखा जाता रहा है। शास्त्र से अभिप्राय विचार ही है। इस मत की पुष्टि में हम आजादी के आंदोलन के दौर को देखें। किस तरह महात्मा गांधी के विचारों में पूरा देश सूत्र-बद्ध था। दांडी यात्रा और नमक बनाने की घटना को देखें तो पाएंगे कि घोर दमन के सामने भी गांधी के विचारों का असर ऐसा रहा कि वहां मौजूद समूचा जन-समूह हिंसक दमन भी शांति से सहता रहा। इसे विचार और साधना का ही प्रतिफल मानना होगा।

विचार या शब्द की ऐसी सामर्थ्य आज क्यों नहीं नजर आ रही? जबकि बौद्धिक विकास के स्तर पर हम पाते हैं कि पहले से कहीं अधिक गतिशीलता आई है। विचार की ऐसी अमूल्य क्षमता का क्षय क्या वैसा ही नहीं है जैसा कि अनमोल मनुष्य-जीवन का अब कोई मोल नहीं समझा जा रहा। लगता है कि दोनों के क्षय की धारा साथ-साथ चली हो। इसके नतीजे भी हर स्तर पर नजर आ रहे हैं। सामाजिक जीवन से लेकर धार्मिक-आध्यात्मिक जगत तक इससे अछूते नहीं रहे हैं और इसे दुर्निवार मानते हुए इस ओर हमारी दृष्टि भी यत्किंचित ही जाती है, जो कि अधिक चिंतनीय है। विचार या शब्द की सामर्थ्य के ऐसे क्षय के कारणों पर विचार किया जाना चाहिए।

शब्द या विचार में सामर्थ्य तभी आती है जब उसके साथ साधना का समावेश हो। इसीलिए 'शब्द-साधना' को भी 'साधना' की श्रेणी में रखा गया और इसकी संहिता भी निर्धारित की गई। हम देखते हैं कि हमारे आधुनिक ज्ञान-केंद्र, जो विश्वविद्यालयों के रूप में स्थापित हैं और जहां बौद्धिक विकास के अनगिन वातायन भी उपस्थित हैं—पर, क्या 'शब्द-साधना' जैसा कोई वातायन भी वहां उपस्थित है? क्या ऐसी किसी संहिता से हमारे ये 'ज्ञान-केंद्र' नियंत्रित हैं कि जिससे नैतिक-आध्यात्मिक प्रस्थापनाएं संभव प्रतीत हो सकें? इसके अभाव में ये 'ज्ञान-केंद्र' बौद्धिक विकास के सक्षम स्थल तो निस्संदेह बने रह सकते

हैं, पर आत्म-विकास के अभाव में तब इनका खोखलापन भी सदा बना ही रहेगा। तब शब्द या विचार के सामर्थ्य की अपेक्षा इन स्थलों से कैसे की जा सकती है? यही वजह है कि ज्ञान-विज्ञान के अपरिमित विकास के होते हुए भी 'विचार' के स्तर पर क्षय होता रहा है।

आज हम देखते हैं कि वैचारिक दृष्टिकोण का इतना महत्त्व नहीं रहा जितना कि प्रौद्योगिकी का मूल्य बढ़ा है। किसी समय में जिस शस्त्र की क्षमता के आगे शास्त्र का मस्तक ऊंचा रहता रहा था, अब लगता है कि शस्त्र की अपेक्षाओं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए शास्त्र का निर्माण हो जा सकता है। संसाधनों की तुलना में 'विचार' का मूल्य न्यून ठहरता है, बल्कि किसी हद तक यह भी देखा जाता है कि 'विचार' उनके सामने चेरी की मानिंद खड़ा है। विचार की सामर्थ्य के इस क्षय का मुख्य कारण उस 'साधना' का अभाव है जिसके बल पर शस्त्र और शास्त्र एक श्रेणी में माने जाते रहे हैं।

कभी हमारे ज्ञान-केंद्र ऋषि-महर्षियों के आश्रम हुआ करते थे। समूची शिक्षा-दीक्षा वहीं से प्रसूत होती थी। नालंदा और तक्षशिला के प्रसंग भी कालांतर में हमें अनुप्रेरित करते रहे हैं। वहां जो शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी तो विद्यार्थी एक साधक के रूप में अपना जीवन व्यतीत करता था। शब्द और विचार में जो सामर्थ्य आती थी, वह उस साधना का प्रतिफल था। आज हमारे ज्ञान-केंद्रों पर शास्त्रों की सामर्थ्य की बनिस्बत भौतिक-प्राविधिक संसाधनों के विकास पर अधिक जोर है। इसीलिए विद्यार्थी भी साधक के रूप में न रह कर एक प्रशिक्षणार्थी की भूमिका में रहता है। आत्म-संयम की जगह एषणाओं ने ले ली है और इसीलिए शिक्षा-दीक्षा का 'मोल-तोल' होता है। इसीलिए विश्वविद्यालयों में किसी भी प्रसंग पर असंतोष, वाद-विवाद और विग्रह के विविध रंग-बदरंग देखने में आते हैं। हमारे इन ज्ञान-केंद्रों की ऐसी हालत से हम सभी आक्रांत हैं, पर उपाय के लिए फिर भी हाथ-पर-हाथ ही धरे बैठे हैं। नियति खुद ही अपना चक्र चलाए और कुछ हो जाए—ऐसी दुराशा पाले बैठे रहना भी जैसे हमारी नियति ही हो।

हां; कभी-कभास इन्हीं आधुनिक ज्ञान-केंद्रों से निकले कुछेक जन अतिक्रमण भी कर जाते हैं। अपने अवशेष सामाजिक जीवन में वे 'विचार' की सामर्थ्य को स्थापित करने का संघर्ष करते दिखाई देते हैं। वे निकले तो इसी 'भट्ठी' से होते हैं, पर लगता है कि किसी और आंच में भी वे तपे हैं। वही आंच उनमें अतिक्रमण का साहस भरती है और वे 'रठ' से बाहर हो जाते हैं। ऐसे कई नाम हमारी स्मृति में कौंध सकते हैं। उसी 'आंच' का तेज बनाए रखने, टिकाए रखने के अनथक पुरुषार्थ में भी वे फिर लग जाते हैं। यही वजह है कि 'मोल-तोल' के इस दुर्धर्ष दुर्ग में भी एक छेद बना हुआ है। इसीलिए विचार या शब्द की सामर्थ्य की बात समाप्त नहीं हो रही, उसकी महत्ता और आवश्यकता को महसूस किया जा रहा है। इसीलिए शस्त्र की निरंकुशता को बार-बार शास्त्र के आगे असहाय और निढ़ाल हो जाना पड़ता है।

यह संकेत इस उम्मीद का संचार तो करता है कि विचार की सामर्थ्य निर्विवाद है, पर आज के माहौल में इसे प्रभावी रूप देने की जरूरत है। यह जरूरत उसी साधना से फलीभूत हो सकती है जो कभी हमारे ज्ञान-केंद्रों का प्रबल आधार रही है। इस दृष्टि से अब यह सोचना जरूरी है कि हम अपने समाज को 'मोल-तोल' के महाजाल से कैसे मुक्त करें, जो आज हर क्षेत्र में अपना दुश्चक्र फैलाए हुए है। हमें अपने विश्वविद्यालयों, ज्ञान-केंद्रों के रूप-स्वरूप पर नए सिरे से विचार करना चाहिए। आज वे ज्ञान-विज्ञान के बिक्री अथवा उत्पादन-केंद्र बने हुए हैं। उनकी भट्ठी में से निकले विद्यार्थी अंततः बाजार के एक पुर्जे के रूप में ही नजर आते हैं और वे भी अपना 'मोल' अपने 'कोट' पर अंकित करा बैठते हैं।

एक दृष्टि से—जो निर्विवाद भी कही जा सकती है—अकेले एकल बदलाव से संपूर्ण परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, न इसका असर ही प्रकट हो सकता है। अतः यह कहा ही जा सकता है—जो सही भी है—कि आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए—हमारी संपूर्ण नीतियों में, हमारी व्यवस्था में। लेकिन, इसकी शुरुआत हमें अपने इन्हीं ज्ञान-केंद्रों से ही करनी होगी, क्योंकि ये ही वे स्थल हैं जहां से विचार का बल, शास्त्र का बल प्रादुर्भूत होता है।

अतः इस शुरुआत के लिए एक पहल तो किसी को करनी ही होगी और यह पहल वहीं संभव है जहां विचार की सामर्थ्य को आज भी प्रतिष्ठा प्राप्त है। आज ऐसे ज्ञान-केंद्र हमारे सामने हैं, जिनकी स्थापना एक उद्देश्य को लेकर की गई, जिसकी परिकल्पना में समय के साथ बह जाने की विवशता नहीं, बल्कि धार को बदल देने की दृढ़ संकल्पना रही है। यह दाय उन्हीं केंद्रों पर है। इस चुनौती को उन्हें ओढ़ना चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

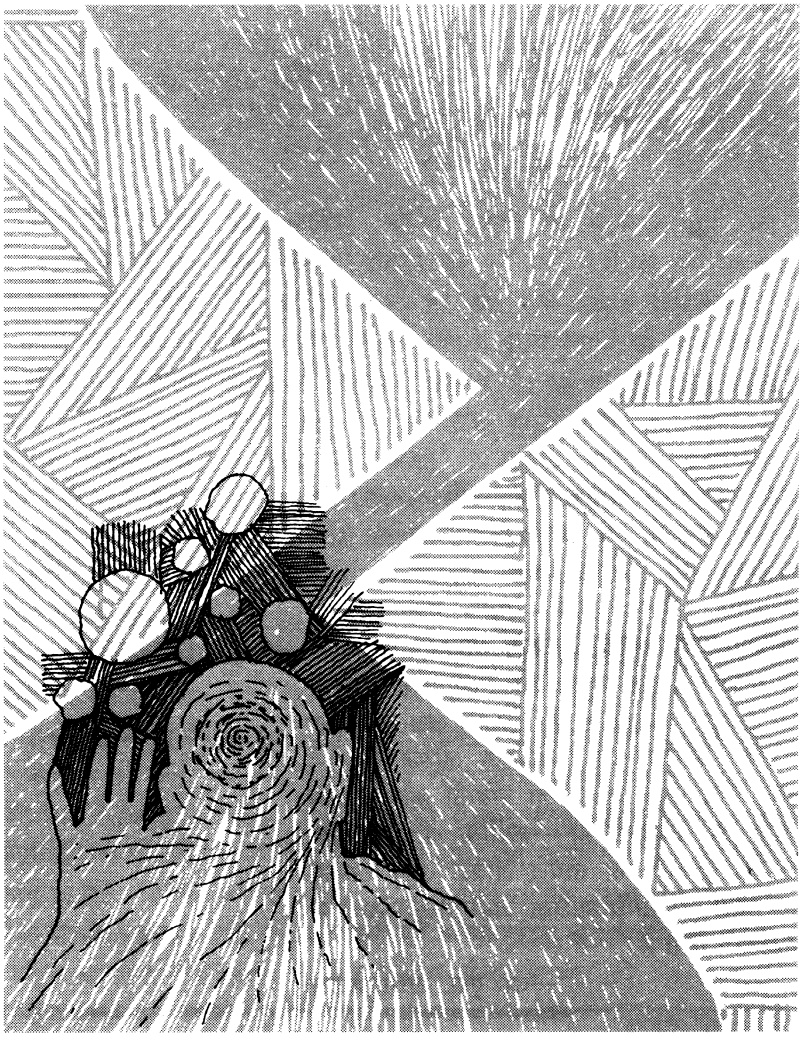

जहां सामाजिक व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुंचने के लिए प्रशिक्षण दिया जाए, वहां इसका एक अत्यावश्यक लक्ष्य—इसके सांसारिक लक्ष्यों के कारण—इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का विकास करना भी है। जिनमें जन-समुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक जीवन के ऐसे स्तर तक पहुंच सके, जो सबकी भलाई और शांति के अनुकूल हो—क्योंकि ये ही दशाएं प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी स्वतंत्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती हैं।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन्

भारतीय परंपरा में राष्ट्रीय चेतना एक महाद्वीपीय सांस्कृतिक चेतना रही है। स्वाधीनता संग्राम के युग में इसी चिरंतन सांस्कृतिक पहचान का पुनरुद्धार हुआ और इसके साथ राजनीतिक स्वाधीनता एवं जनतंत्रात्मक राज्य की नई कल्पना जोड़ दी गई। इस चिरंतन सांस्कृतिक चेतना का निर्माण जिन तत्त्वों से हुआ, उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तो भारतीय संस्कृति की प्राणभूत आध्यात्मिक साधना की धार है, जो सत्य को एक पंथ-विशेष में सीमित नहीं करती। जो यह मानती है कि अपने-अपने अधिकार और उपासनाओं के अनुरूप मनुष्य निःश्रेयस् और स्वधर्म अनुसंधान करते हैं, और सभी मार्ग अंततोगत्वा उसी एक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं जैसे सब नदियां सागर की ओर। रूचीनाम् वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल-नाना-पथ-जुषाम् नृणाम् एको गम्यस्त्वमसि पयसाम् अर्णव इव ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

भारत की चिरंतन सांस्कृतिक एकता

❑ डॉ. गोविंदचंद्र पांडे ❑

राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक गौरव, दोनों की ही स्थिति इस समय मुझे शोचनीय प्रतीत हो रही है। इस स्थिति का उचित निदान और प्रतिकार किए बिना हिंदी भाषा और साहित्य की राष्ट्रीय भूमिका सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकती। शायद कुछ लोग यह सोचें कि मैं वर्तमान यथार्थ को ठीक नहीं पढ़ पा रहा हूं और एक भ्रांत निराशावाद का शिकार हूं। पर, मुझे लगता है कि भारत के विकास और सफलता की वर्तमान चर्चा अधिकांश में मात्र सत्तानुबंधी संचार माध्यमों का प्रचार है। यह सही है कि सत्तारूढ़-सत्ताच्युत राजनीतिक दलों में इस पर मतभेद हैं, तो भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि राजनीतिक संघर्ष में सत्य ही सर्वप्रथम क्षत-विक्षत होता है। इस स्थिति में राजनीतिक चर्चा पक्षपात के आरोप से नहीं बच सकती और इस विषय में मैं कुछ नहीं कहना चाहता। सच तो यह है कि सक्रिय राजनीति से दूर बुद्धिजीवियों के वर्ग में सभी राजनीतिक दलों की ओर एक निराशा का भाव है, क्योंकि उनमें स्पष्ट ही एक ऐसी तात्कालिकता दीखती है जो अनासन्न आदर्शों की चेतना की ओर जड़ हो गई है। देश की आर्थिक, भौतिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक सफलताओं का विश्लेषण मेरा उद्देश्य नहीं है। न मेरा उद्देश्य स्वतंत्रता के बाद भारतीय भौतिक प्रगति के सरकारी दावों का मूल्यांकन है। इतिहासकार की दृष्टि से मैं यह नहीं मानता कि भौतिक प्रगति का कोई एक समस्त इतिहासव्यापी सीधा-सपाट मार्ग है जिसके मुख्य पड़ावों को सामान्यतया मानचित्रांकित कर दिया गया है। यह भी मुझे मान्य प्रतीत नहीं होता कि प्रतिदशक दुगुनी होती हुई वैज्ञानिक उपलब्धि की थाती या उसके अनुकूल प्राविधिक आविष्कार मानवता को किसी अंतिम यूटोपिया को चरितार्थ करने की दिशा में ले जा रहे हैं। भारतवर्ष में तो उस प्रकार की प्रगति अभी तक एक स्वप्न और दुराशा मात्र है। किंतु, इस बात से मुझे निराशा और खेद नहीं है, क्योंकि मैं यह मानता हूं कि भौतिक प्रगति का इतिहास चक्राकार होता है। धन-संपदा और आर्थिक वैभव राजसत्ता के समान कालक्रम से बढ़ते और नष्ट होते हैं। यह भी निर्विवाद है कि भौतिक जीवन में एक अनिवार्य स्पर्द्धा और संघर्ष का व्यापार चलता रहता है जो कभी उन्नति और कभी विनाश को जन्म देता है। इसीलिए मानवीय इतिहास का तात्पर्य भौतिक अभ्युदय नहीं माना जा सकता। दूसरों की गरीबी हटाना अवश्य ही एक नैतिक लक्ष्य है, किंतु भौतिक जीवन के स्तर को निरंतर बढ़ाने

की अभिलाषा में किसी प्रकार की नैतिकता या आध्यात्मिकता नहीं बताई जा सकती, न उसे सांस्कृतिक लक्ष्य माना जा सकता है। यह सामाजिक-भौतिक स्तर के स्वार्थपरक संघर्षों का परिणाम है। ऐसी गरीबी, जिसमें स्वस्थ-जीवन और उदात्त-आदर्शों का अनुसंधान न हो पाए, अवश्य ही एक अनर्थ की स्थिति है, जिसका निवारण उच्चतर जीवन की पूर्वभूमिका माना जा सकता है। किंतु, भौतिक जीवन का स्वयं एक मूल्य के रूप में अनुसंधान निरंतर असंतोष को जन्म देता है, जिसमें गरीबी और अभाव का अर्थ ही है—हटते क्षितिज की तरह बदलते जाना। अमेरिका में मोटर न खरीद पाना ही गरीबी का लक्षण है। इस प्रकार की दृष्टि के लिए यही कहना होगा—'स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।'

अतएव स्वदेश की वर्तमान स्थिति से जो मेरा असंतोष है, वह उसकी आर्थिक, भौतिक सफलता या असफलता को लेकर नहीं है, वह उसकी राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक धरोहर को संकट में देखकर है। राष्ट्रीय एकता संकट में है, यह बात इससे ही सिद्ध है कि राष्ट्रीय स्तर पर एक नेशनल इंटीग्रेशन कमेटी कार्य करती है, पर इस कमेटी का नाम ही मुझे चौंकाने वाला लगता है। इससे यह ध्वनित होता है कि राष्ट्रीय एकता कोई पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं है, बल्कि भविष्य में साध्य लक्ष्य है। यह कहा जाता है कि भारत के राजनीतिक इतिहास में एकता और बिखराव की दो विरुद्ध प्रवृत्तियों को चिरकाल से देखा जा सकता है। इन प्रवृत्तियों में बिखराव की स्थिति ही बहुधा चरितार्थ हुई है—यह कहना भी अत्युक्ति न होगी। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जो अराजकता व्याप्त थी, वह अंग्रेजी शासन से दूर हुई, किंतु उससे स्थापित एकता सत्तामूलक थी, भावमूलक नहीं। इसीलिए स्वाधीनता संग्राम के दौर में पुरानी विच्छेदकारी प्रवृत्तियां अंग्रेजी शासन समाप्त होने की कल्पना से ही फिर से उभर पड़ीं। अतएव स्वतंत्रता के बाद की स्थिति आश्चर्यजनक न होनी चाहिए, न राष्ट्रीय एकता के भविष्य में साध्य मानने में कोई आपत्ति होनी चाहिए। इन युक्तियों में सत्य होते हुए भी यह सही नहीं है कि स्वाधीनता के बाद की विघटनकारी प्रवृत्तियां अंग्रेजी शासन के पहले की चिरंतन प्रवृत्तियों का ही अविच्छिन्न प्रवाह हैं। न यह सही है कि एक आधारभूत अर्थ में राष्ट्रीय एकता भारतीय इतिहास का चिरंतन सत्य नहीं रहा। इसलिए यह धारणा भी भ्रांत है कि इस पुरानी कमी के कारण भारत को नवीन राष्ट्रीय सूत्रों से बांधने के लिए नया कौशल और संसाधन अपेक्षित हैं। स्वतंत्र भारत में उभरी विघटनकारी प्रवृत्तियां नई व्यवस्था और नीतियों से जन्मी हैं। वे इस बात से जन्मी हैं कि भारत की चिरंतन भावात्मक एकता की उपेक्षा की गई है। यह चिरंतन एकता सांस्कृतिक रही है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण और साधन समस्त भारतीय भाषाओं का साहित्य कहा जा सकता है।

इस संदर्भ में कुछ मूलभूत अवधारणाओं का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सरकार, राज्य और राष्ट्र—तीनों ही विविक्त पदार्थ हैं। सिर्फ सरकारों के आने-जाने से राज्य का उद्गम या विनाश नहीं होता और राज्य की सीमाएं, राष्ट्र की सीमाएं नहीं मानी जा सकतीं। सरकार कानूनी संप्रभुता के तंत्र को कहा जा सकता है, जबकि राज्य इस तंत्र से संगठित समाज है। उसी व्यवस्था के अंतर्गत सत्ता का हस्तांतरण या सरकार का बदलना है। व्यवस्था का बदलना राज्य विप्लव है। संप्रभुता या सत्ता की व्यवस्था के उसी प्रकार बने रहने पर सिर्फ उसके हस्तांतरण से राज्य नष्ट नहीं होता। दिल्ली में मुगल सम्राटों के बदलते हुए भी मुगल साम्राज्य बाबर से बहादुरशाह तक किसी-न-किसी रूप में बना रहा। अंग्रेजी सरकार के स्थान पर जनतंत्रीय स्वदेशी सरकार के स्थापित होने से शासन-व्यवस्थाएं ही बदल गईं और साथ में राज्य पर भी सिर्फ राजाओं के बदलने से अथवा सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों के बदलने से राज्य नहीं बदल जाता। सरकार की पहचान को शासनारूढ़ किसी व्यक्ति अथवा दल से परिभाषित किया जाए अथवा एक किसी विशेष शासकीय व्यवस्था से—दोनों स्थितियों में सरकार और राज्य अयुतसिद्ध, पर विविक्त रहते हैं। कोई शासक या शासकीय व्यवस्था बिना राज्य के नहीं रहती और न कोई राज्य बिना किसी भी शासकीय व्यवस्था के रहता है। सरकार और राज्य का यह भेद सुविदित है। तो भी मैं इसका उल्लेख इसलिए करना चाहता हूं, क्योंकि राजनीति के एक प्रकार के व्याख्याता और भारतीय इतिहास के अधिकांश व्याख्याता, शासक-समुदाय और शासकीय व्यवस्था में ही राजकीय जीवन का अथ और इति मान लेते हैं और व्यवस्थाओं के विप्लवी अंतराल से उस मूलभूत सामाजिक चेतना को नजरअंदाज कर देते हैं, जो वस्तुतः राष्ट्र-पद वाच्य है। किसी समाज की राजनीतिक चेतना ही वह स्थाई सूत्र है जिससे नाना शासन-व्यवस्थाएं जन्मती और लुप्त होती हैं। किसी एक विशिष्ट शासन-व्यवस्था से युक्त होने पर ही यह चेतना राज्य का रूप धारण करती है। इस रूप धारण करने पर

उसकी सीमाएं निश्चित हो जाती हैं, क्योंकि संप्रभुता का क्षेत्र स्वरूपतः संदिग्ध नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय राज्य की सीमाएं और थीं, और गणतंत्रात्मक राज्य की सीमाएं भिन्न हैं।

इसका एक निष्कर्ष यह है कि राज्य की नागरिकता और राष्ट्र की सदस्यता एक बात नहीं हैं। राज्य एक कानूनी सत्ता है, राष्ट्र एक सामुदायिक चेतना है। सन् 1947 के बाद भारत का दो राज्यों में विभाजन हो गया। किंतु, इससे क्या भारतीय राष्ट्र का विभाजन माना जा सकता है? जिस आधार पर विभाजन के पहले राष्ट्र एक था, वह आधार क्या विभाजन के बाद शेष नहीं रहा? पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारत की खोज में यह लिखा है कि उन्होंने खैबर से कन्याकुमारी तक उसी भारतीयता को जनता की आंखों से झांकते देखा। यही अनुभूति स्वामी विवेकानंद की थी, और महात्मा गांधी की भी। प्राचीनकाल से चली आ रही है यह एकता की प्रतीति। इसका विवरण भारतीय पौराणिक और धार्मिक साहित्य में, नाना सम्राटों के अभिलेखों में और अनेक विदेशी यात्रियों के विवरणों में देखा जा सकता है। यह अनुभूति और भावात्मक एकता ही भारत की राष्ट्रीय एकता है, जो कि उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा में अभिव्यक्त है।

भारत की परंपरागत कल्पना एक विराट द्वीप की है, न कि एक छोटे जनपद या प्रदेश की। भारतीयता एक महाद्वीपीय भाव है, न कि एक जनपदिक, जातीय या उपजातीय पहचान। जो लोग राष्ट्रीयता को आधुनिक यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिदर्श के अनुसार समझना चाहते हैं, उन्हें भारत में सचमुच ही राष्ट्रीयता का सूत्र नहीं दीख सकता। राष्ट्र की आधुनिक पाश्चात्य अवधारणा में दो भिन्न तत्त्व एक साथ मिलते हैं। एक ओर राष्ट्र भावात्मक संबंधों से घनिष्ठतया जुड़ा जन-समुदाय है, जिसकी पहचान अनेक सांस्कृतिक सूत्रों से निर्मित वितान के द्वारा होती है। दूसरी ओर राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई है, जो स्वतंत्र राज्य हो सकता है या होना चाहिए। मध्यकालीन यूरोप में नाना भाषा-भाषी समुदाय विभिन्न 'नेशनेलिटी' या जातियां बनाकर कालांतर में राजनीतिक इकाइयां या 'नेशनस्टेट' बन गए। आधुनिक यूरोप के भाषामूलक राष्ट्र प्रबल राजशक्तियां होते हुए भी वस्तुतः न सिर्फ भौगोलिक दृष्टि से छोटे-छोटे क्षेत्र हैं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी वे एक व्यापक पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के अंदर परस्पर आदान-प्रदान में जुड़े हुए प्रदेश हैं। एक ही सांस्कृतिक महाद्वीप के वे जनपदिक राज्य हैं, जो अपनी सांस्कृतिक एकता को बीच-बीच में भूलकर एक-दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं। इस विचित्र राष्ट्रीयता को टायनबी ने जनतंत्र और आदिम जनजातीयता का संकर बताया है। इस राष्ट्रीयता के विकास का यह रहस्य नहीं है कि भाषा आदि के समान होने पर किसी भी जन-समुदाय की यह ऐतिहासिक नियति या नैतिक अधिकार है कि वह पृथक और स्वतंत्र राज्य बने। वास्तव में राष्ट्रीयता का यह विकास एक दोषपूर्ण दृष्टि से हुआ है, जो राजनीति को मूल संस्कृति से काटकर एकांगी बना देती है। संभवतः इस कल्पना में पर्याप्त सत्य है कि इस प्रकार की राष्ट्रीयता के विकास में विभिन्न प्रदेशों के व्यापारिक-औद्योगिक वर्गों के संगठित स्वार्थ की भूमिका प्रधान रही है, भले ही उसने अन्य भावोत्तेजक लक्ष्यों को सामने रखा हो। पूंजीवादी स्वार्थों की प्रेरणा से यह नई पाश्चात्य राष्ट्रीयता औपनिवेशिक साम्राज्यवादी संघर्षों में अपने को और समस्त विश्व को डालती रही है, जिसका चरम बिंदु द्वितीय विश्वयुद्ध था और जिसके बाद, जहां, एक ओर, अपनी जन्मभूमि पश्चिम में उसका ह्रास हो रहा है, शेष विश्व में उसका विकास देखा जा सकता है।

कठिन संघर्षों को जन्म देती हुई भावनात्मक शक्ति से प्रेरित राष्ट्रीयता इस समय एक गंभीर रूपांतरण से गुजर रही है, जिसका कारण उसके साथ जुड़ी विसंगतियां हैं। व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी परिप्रेक्ष्य में राज्य एक साधनमात्र है और राष्ट्र भी व्यक्ति के समान ही स्वाधीनता का अधिकारी है। जैसे व्यक्तियों के स्वाधीनतापूर्वक संबंध यथेष्ट अनुबंध और विनिमय आदि के रूप में उनके हितों को अधिकतम और पारस्परिक समता के अनुरूप संपादित करते हैं, ऐसे ही स्वाधीन राष्ट्रों के संबंध में भी उनके लिए सर्वाधिक हितावह होंगे, यह कल्पना युक्तिसंगत है। पर, इस व्यक्तिवादी-उपयोगितावादी संदर्भ के साथ ही राष्ट्रीयता से इसका एक विरोधी तत्त्व जुड़ा है। वह है उसकी सघन भावनात्मकता, जो किसी उपयोगिता या हानि-लाभ की गणना पर आधारित नहीं है। इस भावनात्मक सामुदायिक अहं के लिए राज्य एक उपयोगिता मात्र नहीं है, बल्कि अपनी आत्मा अथवा आंतरिक पहचान की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। यह सामुदायिक अहं सिर्फ एक आवेगात्मक तथ्य या संस्कार नहीं है, उसमें एक नैतिक दावा भी है, जो अपने अस्तित्व, प्रतिष्ठा और स्वाधीनता

को चरम मूल्य मानता है। जैसे राज्य अपने सैनिकों से प्राणांत बलिदान मांगता है, ऐसे ही राष्ट्र अपने सदस्यों से। इस नैतिक भावनात्मक रूप में राष्ट्रीयता से तर्क नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीयता के उपयोगितावादी और अहंवादी पक्ष परस्पर विसंगत हैं। फासीवाद में राष्ट्रीयता के अहंवादी रूप की चरम अभिव्यक्ति उसी प्रकार देखी जा सकती है, जैसे जातीय, उपजातीय या जनपदीय कल्पनाओं को लेकर प्रवृत्त आतंकवाद में।

राष्ट्र की आधुनिक कल्पना के इस अंतर्विरोध को ही टायनबी ने उसकी जनजातीयता और जनतंत्रात्मकता के विशेषणों से सूचित किया है। पर ये विशेषण चामत्कारिक होते हुए भी वस्तुस्थिति को प्रकाशित नहीं करते। आधुनिक राष्ट्र आदिम समाज की कल्पना पर आधारित नहीं है, उनका आधार एक निश्चित भौगोलिक प्रदेश होता है। यूरोप के राष्ट्रों का भाषाई आधार उनके इतिहास का वस्तुतः एक आगंतुक पक्ष है। उनका वास्तविक आधार दीर्घकालीन ऐतिहासिक परंपरा ही है। जिसमें भाषा, साहित्य, धर्म, राजनीतिक व्यवस्था और घटनाओं की अतियोजित भूमिका रही है। आधुनिक जनतंत्रात्मकता भी प्राचीन गणतंत्र-पद्धति से नितांत भिन्न है। क्योंकि उसमें जनता की भागीदारी प्रतिनिधियों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से होती है। फलतः प्रोफेसर टायनबी के निरूपण का वास्तविक तात्पर्य यही समझना चाहिए कि आधुनिक राष्ट्रीयता में भक्ति-प्रधानता और गण-प्रधानता की प्रवृत्तियों का एक अंतर्निहित द्वंद्व है।

संक्षेप में आधुनिक पश्चिमी राष्ट्रीयता को अंतर्द्वंद्वग्रस्त, आगंतुक ऐतिहासिक रचना कहा जा सकता है, जिसमें मात्र भाषा के आधार पर एक सीमित प्रदेश को ही देश माना गया है और जिसमें जनतंत्रात्मक के बावजूद सत्ता वस्तुतः संगठित आर्थिक शक्ति के द्वारा ही संचालित होती है। इस स्थिति में अंतर्निहित कल्पना के अनुसार राष्ट्र ऐसा जन समुदाय है, जिसमें ऐतिहासिक कारणों से एकता की चेतना के साथ राजनीतिक स्वाधीनता की इच्छा—ये दो तत्त्व किसी भी राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं। राज्य के संदर्भ में राष्ट्र को उसकी पृष्ठभूमि में अवस्थित सामाजिक चेतना कहा जा सकता है। किन कारणों से समाज में एकता की पहचान उत्पन्न होती है, किस रूप में वह चेतना अपनी स्वाधीनता चाहती है, अपने लिए वह किस प्रकार की उचित राजनीतिक अभिव्यक्ति चाहती है—इन सभी प्रश्नों के अनेक उत्तर दिए जा सकते हैं और दिए गए हैं। मैंने दो प्रकार की राष्ट्रीय चेतनाओं का उल्लेख किया था—एक तो आधुनिक पश्चिमी देशों में उद्भूत राष्ट्रीयता की, जो अपनी पहचान एक सीमित भाषाई क्षेत्र से मानती है, किंतु अपनी आर्थिक और सैनिक शक्ति से समस्त विश्व को निगलना चाहती है, जिसमें घनिष्ठ सामुदायिक चेतना आर्थिक-राजनीतिक लक्ष्यों को ही चरम पुरुषार्थ मानती है। इसके विपरीत भारतीय परंपरा में राष्ट्रीय चेतना एक महाद्वीपीय सांस्कृतिक चेतना रही है। स्वाधीनता संग्राम के युग में इसी चिरंतन सांस्कृतिक पहचान का पुनरुद्धार हुआ और इसके साथ राजनीतिक स्वाधीनता एवं जनतंत्रात्मक राज्य की नई कल्पना जोड़ दी गई। इस चिरंतन सांस्कृतिक चेतना का निर्माण जिन तत्त्वों से हुआ, उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तो भारतीय संस्कृति की प्राणभूत आध्यात्मिक साधना की धार है, जो सत्य को एक पंथ-विशेष में सीमित नहीं करती। जो यह मानती है कि अपने-अपने अधिकार और उपासनाओं के अनुरूप मनुष्य निःश्रेयस् और स्वधर्म अनुसंधान करते हैं, और सभी मार्ग अंततोगत्वा उसी एक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं जैसे सब नदियां सागर की ओर। **रूचीनाम् वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल-नाना-पथ-जुषाम् नृणाम् एको गम्यस्त्वमसि पयसाम् अर्णव इव ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**—सम्राट अशोक ने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि सभी पंथ एक ही बात चाहते हैं, जिसे संयम और भावशुद्धि कहा जा सकता है। इसलिए सब पंथों का सहभाव ही श्रेष्ठ है—**समवाय एव साधुः**।

अनेकानेक भारतीय शासक इसी सर्वधर्म समभाव की नीति का अनुसरण करते रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक-धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता से परिप्लुता, एकता और अनेकता का यह विलक्षण दृश्य मिलता है। ❖

प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुख दो स्वामियों के अधीन रखा है। यह बताना कि हमें क्या करना चाहिए और यह निर्धारित करना कि हम क्या करेंगे, केवल उन्हीं का काम है। अपने समस्त विचारों के लिए हम उन्हीं के ऋणी हैं। हमारे तथा जीवन के समस्त निश्चय एवं निर्णय उन्हीं के द्वारा निर्धारित होते हैं।

—बैन्थम

योग्य विद्वानों और पंडितों को खींचने के लिए यदि विश्वभारती पैसे या सुख-सुविधाएं तथा आराम देने की शक्ति पर भरोसा रखेगी, तो वह उन्हें नहीं खींच पाएगी। उसके पास तो नैतिक आकर्षण ही होना चाहिए। नहीं तो वह भी हिंदुस्तान की दूसरी शिक्षण-संस्थाओं जैसी ही हो जाएगी। जिस आदर्श के लिए गुरुदेव जिए और मरे, वह यह नहीं है। मेरा मतलब यह नहीं कि यहां काम करने वालों को जीवन की साधारण सुख-सुविधाएं न दी जाएं। यहां बहुत-सी भौतिक सुविधाएं तो मौजूद हैं ही। यदि मैं यहां ज्यादा समय ठहरा होता और मैंने अपने ढंग से काम किया होता, तो ये कम भी हो सकती थीं। विश्वभारती की जैसे-जैसे उन्नति होगी और जैसे-जैसे उसे ज्यादा भेंट और दान मिलने लगेंगे, वैसे-वैसे यदि वह चाहेगी तो धीरे-धीरे विद्वानों और शोधकों के लिए ज्यादा आकर्षण भी रख सकेगी। लेकिन यदि मुझे सलाह देने के लिए कहा जाय तो मैं यह कहूंगा : 'इस लालच में न पड़िए।' विश्वभारती को अपनी नैतिक समृद्धि के बल पर खड़ा होना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करती तो वह निकम्मी है।

ज्ञानकेंद्र : नैतिक आकर्षण के स्थल हों

❑ *महात्मा गांधी* ❑

कोई छह दशक पहले महात्मा गांधी ने विश्वभारती, शांति निकेतन के कार्मिकों के साथ अंतरंग बातचीत की थी। किसी भी विश्वविद्यालय, और खासकर विशेष प्रयोजन व उद्देश्य को लेकर संचालित होने वाले विश्वविद्यालय, के रूप-स्वरूप पर चिंतन के लिए यह चर्चा आज भी प्रासंगिक है। महात्मा गांधी की पुण्यतिथि (30 जनवरी) पर उनका पुण्य स्मरण करते हुए यह बातचीत जैन भारती के पाठकों के लिए—

महात्मा गांधी और कविगुरु रवींद्रनाथ ठाकुर के मध्य आपसी मुलाकातें जितनी हुईं, उससे कहीं अधिक उनके मध्य वैचारिक आदान-प्रदान होता रहा। यह भी माना जाता रहा कि अपने समय की ये दो महान विभूतियां भारत की आत्मा के दो रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं और ये दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक हैं।

महात्मा गांधी जब पहली बार शांति निकेतन पहुंचे और कविगुरु से मुलाकात हुई तो पहली ही मुलाकात में गुरुदेव ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा था—'मैं तो गायक हूं। मैं शांति निकेतन की संचालन व्यवस्था में हाथ नहीं डालना चाहता। आपको अपनी मरजी के मुताबिक सब-कुछ करने की यहां पूरी स्वतंत्रता है।' गांधीजी जब तक वहां रहे, कुछ बुनियादी सुधार करने की कोशिशें कीं। फिर वे गुजरात चले गए।

गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने तब गांधीजी पर शांति निकेतन की दो जिम्मेदारियां डाली थीं। एक—संस्था की आर्थिक व्यवस्था के संबंध में कुछ करने की और दूसरी—संस्था के व्यवस्था कार्य में विशेष दिलचस्पी लेने की।

गुरुदेव के देहांत (1941) के बाद संभवतः दिसंबर, 1945 में महात्मा गांधी एक बार फिर शांति निकेतन गए। बोलपुर रेलवे स्टेशन से उनको सीधा शांति निकेतन के प्रार्थना मैदान ले जाया गया। वहां आश्रमवासी सायंकालीन प्रार्थना के लिए इकट्ठा हुए थे। प्रार्थना के बाद गांधीजी ने छोटा-सा प्रवचन दिया था। इसी प्रवचन के दौरान एक मार्मिक बात गांधीजी ने कही, जो आज के समय में अधिक प्रासंगिक प्रतीत हो रही है—'महान आत्माओं के सच्चे स्मारक संगमरमर, कांसे या सोने की मूर्तियों से नहीं बनते।

उनका सबसे उत्तम स्मारक तो उनकी विरासत की शोभा और समृद्धि बढ़ाने में है।'

महात्मा गांधी ने शांति निकेतन के अपने इस प्रवास में वहां के कर्मचारियों तथा कार्यकर्ताओं से अलग से बातचीत की। बापू ने कहा—'मैं आप ही लोगों के मुंह से सुनना चाहता हूं कि आप किस प्रेरणा से यहां रहते हैं और आपके सामने कौन-कौन सी मुश्किलें हैं?'

इसी प्रसंग में गांधीजी ने उन सभी को भाषा के प्रश्न पर चेतावनी भी दी। चूंकि उनमें बहुत-से लोग हिंदुस्तानी नहीं जानते थे और कुछेक तो एकदम नहीं, अतः गांधीजी ने अपने जवाब अंग्रेजी में दिए। पर, इस बात के लिए चेताया कि अगली बार उनको हिंदुस्तानी में बोलना होगा। स्वयं के लिए भी कहा कि वे हिंदुस्तानी को छोड़कर दूसरी जबान में नहीं बोलेंगे।

यह माना ही जाता है कि विश्वविद्यालय जीवंत 'ज्ञान-केंद्र' होते हैं। इस दृष्टि से विश्वविद्यालय या किसी 'ज्ञान-केंद्र' को महात्मा गांधी जिस स्वरूप में देखना चाहते हैं—वह दृष्टि इन सवाल-जवाबों में स्पष्ट हो रही है। गांधीजी की वह दृष्टि क्या थी, यहां उनके जवाबों में स्पष्ट है—

सवाल : क्या शांति निकेतन को राजनीतिक कार्य में भाग लेना चाहिए?

गांधीजी : मुझे यह कहने में जरा भी कठिनाई नहीं है कि शांति निकेतन और विश्वभारती को राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए। हर संस्था की अपनी मर्यादाएं होती हैं। यदि इस संस्था को अपनी कीमत न घटानी हो, तो इसे भी अपने लिए कुछ मर्यादाएं रखनी चाहिए। जब मैं यह कहता हूं कि शांति निकेतन को राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए, तब उससे मेरा यह मतलब नहीं कि उसका कोई राजनीतिक ध्येय ही नहीं होना चाहिए। पूर्ण स्वराज्य जैसे देश का ध्येय है, वैसे ही उसका भी होना चाहिए। लेकिन उसी ध्येय के कारण उसे मौजूदा राजनीतिक शोरगुल से दूर रहना चाहिए। यही प्रश्न जब मैं तीस साल पहले यहां आया था, तब भी पूछा गया था और मैंने उसका वही जवाब दिया था, जो आज दे रहा हूं। असल में तो यह जवाब आज ज्यादा जोर से लागू होता है।

सवाल : विश्वभारती को अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय बनाने के लिए क्या हमें उसके भौतिक साधन बढ़ाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये? और क्या हमें जीवन की सुविधाएं और सर्वसामान्य आराम विशेष रूप से दे कर सारे देश के ऊंचे स्तर के विद्वानों और शोधकों को नहीं खींचना चाहिए?

गांधीजी : भौतिक साधनों से, मैं मानता हूं, आपका मतलब पैसे से है। तब तो मैं यह कहूंगा कि आपने यह सवाल एक ऐसे आदमी के सामने रखा है, जो भौतिक साधनों पर भरोसा नहीं रखता। 'भौतिक साधन' एक तुलनात्मक शब्द है। मसलन, मैं खाए और पहने बगैर नहीं रहता। शायद और किसी आदमी के मुकाबले मैंने अपने ढंग से हिंदुस्तान के औसत आदमी के आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए ज्यादा कोशिश की है। लेकिन, मेरा पक्का विश्वास है कि योग्य विद्वानों और पंडितों को खींचने के लिए यदि विश्वभारती पैसे या सुख-सुविधाएं तथा आराम देने की शक्ति पर भरोसा रखेगी, तो वह उन्हें नहीं खींच पाएगी। उसके पास तो नैतिक आकर्षण ही होना चाहिए। नहीं तो वह भी हिंदुस्तान की दूसरी शिक्षण-संस्थाओं जैसी ही हो जाएगी। जिस आदर्श के लिए गुरुदेव जिए और मरे, वह यह नहीं है। मेरा मतलब यह नहीं कि यहां काम करने वालों को जीवन की साधारण सुख-सुविधाएं न दी जाएं। यहां बहुत-सी भौतिक सुविधाएं तो मौजूद हैं ही। यदि मैं यहां ज्यादा समय ठहरा होता और मैंने अपने ढंग से काम किया होता, तो ये कम भी हो सकती थीं। विश्वभारती की जैसे-जैसे उन्नति होगी और जैसे-जैसे उसे ज्यादा भेंट और दान मिलने लगेंगे, वैसे-वैसे यदि वह चाहेगी तो धीरे-धीरे विद्वानों और शोधकों के लिए ज्यादा आकर्षण भी रख सकेगी। लेकिन यदि मुझे सलाह देने के लिए कहा जाय तो मैं यह कहूंगा : 'इस लालच में न पड़िए।' विश्वभारती को अपनी नैतिक समृद्धि के बल पर खड़ा होना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करती तो वह निकम्मी है।

सवाल : संस्था का उच्च नैतिक आकर्षण कम न हो, इसके लिए क्या किया जाना चाहिए? आप इसके लिए क्या उपाय बतलाते हैं?

गांधीजी : आपमें से हर एक को नैतिकता के महत्त्व को समझना चाहिए। नैतिकता और भौतिकता में आसानी से फर्क किया जा सकता है। एक नीति-परायणता में निष्ठा पैदा करती है और दूसरी माया की पूजा करवाती है। और चार पैर के पशु में और मनुष्य में यही फर्क है कि मनुष्य नैतिकता के महत्त्व को समझता है, यानी मनुष्य में जितनी ज्यादा नैतिकता होगी, उतनी ही ज्यादा उसकी विशेषता होगी। यदि आप इस आदर्श में विश्वास रखते हैं, तो आपको अपने-आप से पूछना चाहिए कि आप यहां क्यों हैं और क्या कर रहे हैं; यह नहीं पूछना चाहिए कि आपको क्या वेतन या जीवन की क्या सुख-सुविधाएं मिलेंगी।

हर कार्यकर्ता को, अलबत्ता, अपने और अपने आश्रितों के लिए भोजन, कपड़े वगैरह तो चाहिए ही। लेकिन आप विश्वभारती में इसलिए नहीं हैं कि वह आपको खाना, कपड़ा और दूसरे भौतिक आराम देती है। आप तो यहां इसलिए हैं कि इसके बगैर आप रह ही नहीं सकते, उसके आदर्शों के लिए काम करने से आपकी नैतिकता में दिनोदिन वृद्धि होती है। इसलिए जो भी दोष पैदा हों, काम में जो भी अड़चनें आएं, उनका कारण आखिर आपको अपने नैतिक मूल्य को देखने के किसी गलत दृष्टिकोण में मिलेगा। साठ से भी ज्यादा सालों से मेरा कई संस्थाओं से संबंध रहा है। और मैं इसी निर्णय पर पहुंचा हूं कि उनके काम में आई हुई हर अड़चन, नैतिक मूल्यों को समझने के दोष के कारण थी।

सवाल : हम देहातियों की सेवा का यत्न कर रहे हैं। हम देखते हैं कि हमारी हर प्रवृत्ति गांवों के सामाजिक वातावरण के कारण रुक जाती है। वहां की निरानंद जीवन-गति, सामाजिक कुरीतियां तथा कूपमंडूकता और उनका बुरा असर हमारे प्रयत्नों में बाधा डालता है। क्या हम अपनी दूसरी प्रवृत्तियों की सफलता की आशा करें, उसके पहले हमें इन्हें दूर करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए? और यदि करना चाहिए तो वह किस तरह से किया जा सकता है?

गांधीजी : मैं जब से हिंदुस्तान में आया हूं तब से मैंने माना है कि राजनीतिक क्रांति यानी अंग्रेजी शासन की गुलामी से मुक्ति पाने की अपेक्षा सामाजिक क्रांति करना बहुत ज्यादा मुश्किल है। कुछ आलोचकों का कहना है कि जब तक हम सामाजिक क्रांति नहीं कर लेते, हिंदुस्तान को राजनीतिक और आर्थिक आजादी नहीं मिल सकती। मैं इसे हमें उलझाने और भ्रम में डालने के लिए पैदा की हुई एक अड़चन, एक पहेली मानता हूं। मेरा अनुभव है कि राजनीतिक आजादी का अभाव हमारे सामाजिक और आर्थिक आजादी लाने के प्रयत्नों को भी रोकता है। साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि सामाजिक क्रांति किए बगैर हम हिंदुस्तान को आज से अधिक सुखी नहीं बना पाएंगे। लेकिन सामाजिक क्रांति लाने के लिए मैं इसके सिवा और कोई राजमार्ग नहीं बतला सकता कि उस क्रांति को हम अपने जीवन के छोटे-से-छोटे काम में प्रकट करें।

कुछ देशों में समाज का ढांचा बदलने के लिए पशुबल का उपयोग किया गया था। लेकिन हमारे विचार में मैंने जान-बूझकर उसे छोड़ दिया है। इसलिए आपसे मेरी यही सलाह है कि आप बार-बार प्रयत्न करें और कभी ऐसा न कहें कि आप असफल हुए हैं। अधीर बनकर आप यह न कहें कि 'लोग भले नहीं हैं।' बल्कि यह कहें कि 'मैं भला नहीं हूं।' यदि आपकी तय की हुई मीयाद में लोग आपकी बात नहीं मान लेते, तो यह आपकी कमजोरी है, उनकी नहीं। यह बदले या यश से रहित और बड़ी मेहनत का काम है। लेकिन आप अपने काम के लिए बदले या यश की अपेक्षा न रखें। जो काम प्रेम की भावना से सिर पर लिया जाता है, वह बोझ नहीं मालूम होता, बल्कि शुद्ध आनंद रूप लगता है।

सवाल : आश्रम में वेतन-पद्धति दाखिल करने से संस्था का आदर्श ऊंचा उठता है या नीचे गिरता है?

गांधीजी : मुझे यह कहने में जरा भी मुश्किल नहीं कि आप एक बंधी हुई तनख्वाह लें या आपका सारा खर्च संस्था चुका दे, दोनों में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। दोनों पद्धतियां आजमाई जा सकती हैं। जो खतरा है और जिसका खयाल रखना चाहिए, वह तो यह है कि यदि आप किसी आदमी को उसकी बाजार की कीमत देते हैं, तो आप आश्रम की भावना को नहीं निभाते। सर्वश्रेष्ठ विद्वान और सुयोग्य लोग भी यदि हम से उनके बाजार-भाव से मेहनताना मांगें, तो बेहतर है कि हम उनके बगैर अपना काम चलाएं। दूसरे शब्दों में कहूं तो जब तक विद्वानों को हमारी संस्था के पैसे के बनिस्बत उसके आदर्श का आकर्षण नहीं होता, तब तक हम रुके रहें। 'जरूरत के अनुसार' के सिद्धांत के आधार पर भी आप उनके बाजार-भाव से आगे न बढ़ें। विश्वभारती में वेतन की पद्धति है, यह कोई शिकायत का कारण नहीं है। जिन मुश्किलों का आपने जिक्र किया है, वे सिर्फ ऊपरी टीप-टाप से दूर नहीं होंगी। आपको अपने समझे हुए दोषों के मूल कारणों को खोजना होगा और उन्हें दूर करना होगा।

सवाल : तरुणों में हम जो शुभ मात्र के लिए अश्रद्धा देखते हैं, उसमें से हम कैसे रास्ता निकालें?

गांधीजी : जब आप मुझसे यह प्रश्न पूछते हैं, तो मुझे निराशा की सांस लेनी पड़ती है। जब आप देखें कि आपके विद्यार्थियों में श्रद्धा नहीं है, तो आपको अपने तईं कहना चाहिए कि 'मुझमें श्रद्धा नहीं है।' यह बात बार-बार मैंने अपने अनुभव में पाई है। और हर बार उस अनुभव ने मेरे लिए स्फूर्तिदायक स्नान का ही काम किया है। बाइबल में यह कहावत है कि 'पड़ोसी की आंख का कण बतलाने के पहले तू अपनी आंख का पत्थर निकाल।' यह कहावत विद्यार्थियों

और शिक्षकों के संबंध में विशेष उपयुक्त है। विद्यार्थी आपके पास अपने से बहुत ही ज्यादा अच्छी चीज पाने के लिए आता है। यह शिकायत करने के बजाय कि—'आह, उसमें श्रद्धा नहीं है, मैं उसमें श्रद्धा कैसे पैदा कर सकता हूं'—यह बेहतर होगा कि आप अपनी जगह से इस्तीफा दे दें।

सवाल : गुरुदेव की बौद्धिक परंपरा तो यहां अच्छी तरह निबाही जा रही है। लेकिन, मुझे भय है कि जिस आदर्श और भावना के वे प्रतीक थे, उसे पूरा स्थान नहीं मिलता। इसका कारण संस्था का कोई दोष ही होगा। इसका उपाय क्या है? दूसरे, क्या हमारी संस्था को जन-साधारण की ही कला और संस्कृति देने का काम करना चाहिए? आपका आदर्श तो यही है। परंतु इसके साथ क्या यहां विशेष अधिकारियों के लिए ऊंचे दरजे की कला को आश्रय-स्थान नहीं देना चाहिए? यह गुरुदेव का आदर्श था। ऐसी संस्था अलबत्ता एक विशेष प्रकार की और कुछ अधिकारी लोगों के लिए ही होगी। मैं आप और गुरुदेव, दोनों के आदर्शों का अनुयाई हूं, और दोनों के बीच के संघर्ष में पिसता रहता हूं।

गांधीजी : पहले दूसरा सवाल लें। इसमें गुरुदेव पर और मुझ पर, दोनों पर दोषारोपण है। मुझे हम दोनों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं मिला है। मैंने गुरुदेव और अपने बीच विरोध खोजने का प्रयत्न किया था। लेकिन, उसका शानदार परिणाम मैंने यह पाया कि हम दोनों में जरा भी विरोध नहीं है।

आपके पहले सवाल के बारे में मैं इतना ही कह सकता हूं कि 'मैं सही हूं, लेकिन संस्था में कुछ गलती है', इस वृत्ति में अपनी शुद्धि का अहंकार है, यह आत्महत्या है। जब आप यह समझने लगें कि 'मैं नेक हूं, पर मेरे आस-पास सारी बदी भरी है', तो इससे आपको यह मतलब निकालना चाहिए कि आपके आस-पास सब जगह शुद्धि है, अशुद्धि कहीं आपमें ही है। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001 ❑ फोन : 22357956, 22343598 फैक्स : 033-22343666

महासभा के 92वें वार्षिक अधिवेशन की सूचना

महासभा का 92वां वार्षिक अधिवेशन आगामी मिति माघ शुक्ला 6, दिनांक 3 फरवरी, 2006 को सायं 7.00 बजे आचार्यश्री महाप्रज्ञ प्रवास स्थल, धूरी (पंजाब) में होगा, जिसमें निम्न विषयों पर विचार होगा—

- महासभा के 91वें वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही का पठन एवं स्वीकृति।
- महासभा के 92वें वर्ष के महामंत्री के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार व स्वीकृति।
- महासभा के हिसाब परीक्षक द्वारा अंकेक्षित 1 अप्रैल, 2004 से 31 मार्च, 2005 तक के आय-व्यय लेखा की स्वीकृति।
- आगामी दो वर्ष के लिए महासभा के अध्यक्ष, ट्रस्ट बोर्ड के ट्रस्टीगण, महासभा के बोर्ड ऑफ आर्बीट्रेटर के सदस्यों का चुनाव।
- महासभा के आगामी एक वर्ष के लिए अंकेक्षक की नियुक्ति।
- आए हुए प्रस्तावों एवं सुझावों पर विचार।
- विविध—अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

महासभा के वार्षिक अधिवेशन में सभी सदस्यों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है।

तरुण सेठिया
महामंत्री

अनुभूति

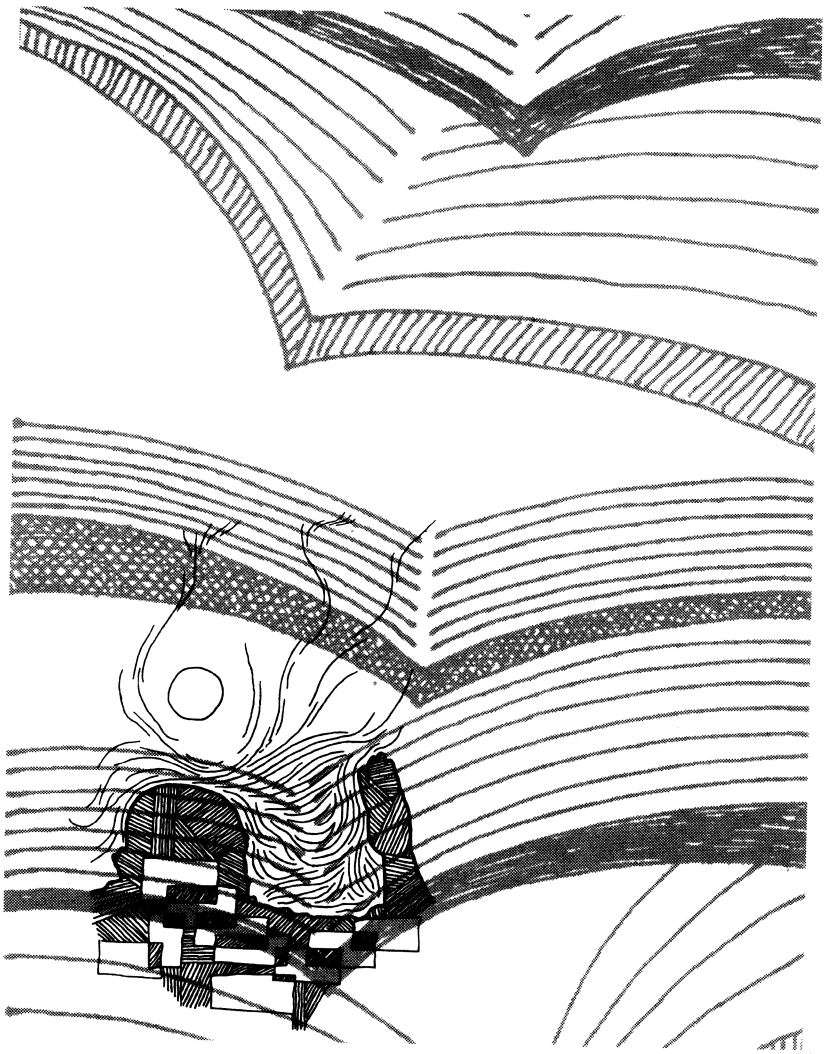

पूर्ण से पूर्ण—यह प्राकृतिक विकास का नियम है। प्रश्न होगा कि इसका अर्थ क्या है? अगर पहले भी पूर्ण और पीछे भी पूर्ण, तो 'विकास' किसका? अपूर्ण से पूर्ण कहा जाए, तो 'विकास' समझ में भी आता है। पर 'पूर्णात् पूर्ण' यह भाषा ही अर्थशून्य प्रतीत होती है।

अवश्य ही यह भाषा अर्थशून्य प्रतीत होती है, पर इसमें गंभीर अर्थ निहित हैं। पूर्ण से पूर्ण यानी छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण। नवजात शिशु भी पूर्ण है और बीस वर्ष का युवक भी पूर्ण है। पहला छोटे पूर्ण का उदाहरण है और दूसरा बड़े पूर्ण का। बालक के एक आंख थी, या आधी नाक थी और युवक के दो आंखें या पूरी नाक हो गई—ऐसी बात नहीं। दोनों के दो आंखें और उन दोनों के बीच एक नाक होती है। दोनों ही पूर्ण हैं। अंतर यही है कि एक छोटा पूर्ण है और दूसरा बड़ा पूर्ण।

—विनोबा

व्यवहार और आचार को देखकर जाना जा सकता है कि अभी वर्तमान में व्यक्ति किस रसायन से प्रभावित हो रहा है? कौन रसायन उसे इस प्रकार के आचार-व्यवहार के लिए प्रेरित कर रहा है? जब आदमी में क्रोध जागता है, अहंकार और वासना जागती है तब जान लिया जाता है कि अभी इस स्थिति में व्यक्ति की 'एड्रीनल ग्लैण्ड' ज्यादा सक्रिय हो रही है। 'गोनाड्स और थायराइड ग्लैण्ड' अधिक काम कर रही है। सारा व्यवहार इनसे प्रभावित होता है। व्यक्ति का आचरण बोलता है कि आदमी अभी किन-किन ग्रंथियों से प्रभावित हो रहा है। इन रसायनों को जाने बिना व्यक्तित्व की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती। व्यक्तित्व के पूरे विकास पर अंतःस्रावी ग्रंथियों के रसायनों का बहुत प्रभाव होता है। जब हम इस तथ्य से अज्ञात रहते हैं तब अनेक विरोधी बातें कर जाते हैं। कभी बाहरी परिस्थिति पर सारा दोषारोपण कर देते हैं और कभी किसी व्यक्ति-विशेष को उस घटना का उत्तरदाई बना देते हैं।

पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

व्यक्तित्व की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—चेतना और परिस्थिति। यदि परिस्थिति है और चेतना नहीं है, या चेतना है और परिस्थिति नहीं—तो व्यक्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। दोनों आवश्यक हैं। चेतना भी आवश्यक है और परिस्थिति भी आवश्यक है। परिस्थिति के बिना व्यक्तित्व को ठीक से नहीं समझा जा सकता। चेतना सूक्ष्म है। उसे कभी नहीं देखा। न मैंने देखा है और न आपने देखा है। चेतना की व्याख्या हम करते हैं। प्राचीन आचार्यों ने भी की है, पर देखा किसी ने नहीं। परिस्थिति स्थूल है। उसको देखा है, मैंने भी देखा है और आपने भी देखा है। चेतना सूक्ष्म है, उसे नहीं पकड़ा जा सकता। परिस्थिति स्थूल है, उसे पकड़ा जा सकता है, पर दोनों के योग के बिना व्यक्तित्व की व्याख्या नहीं हो सकती।

परिवेश का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने तीन निष्कर्ष प्रस्तुत किए—1. बच्चा जब गर्भ में आता है, तब से ही उस पर प्रभाव पड़ना प्रारंभ हो जाता है। 2. वह जन्म लेता है और जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती है, वैसे-वैसे प्रभाव गहरा होता चला जाता है। 3. एक ही समय में जन्म लेने वाले दो बालक भिन्न-भिन्न वातावरण में पलते हैं तो उनके व्यवहार में भी भिन्नता आ जाती है।

परिवेश के प्रभाव पर एक कथा प्रासंगिक है—

राजा सैर करने निकला। जंगल में पहुंच गया। कुछ आगे बढ़ा। चोरों की पल्ली आ गई। राजा चोरपल्ली के आगे से गुजरने लगा। एक घर के सामने एक पिंजरा टंगा हुआ था। उस पिंजरे में था, एक तोता। जैसे ही तोते ने राजा को देखा, वह बोल पड़ा—'राही जा रहा है। जल्दी आओ, लूटो-लूटो। जा रहा है, जा रहा है।' राजा ने तोते को बोलते देखा। उसकी बात सुनी और अचंभे में पड़ गया। गति को तेज कर आगे निकल गया। अकेला था, भय भी लगा। आगे चला गया।

बहुत दूर जाने पर उसे एक आश्रम मिला। आश्रम में अनेक कुटीर थे। एक कुटीर के द्वार पर पिंजरा था और उसमें भी एक तोता था। तोते ने जैसे ही राजा को देखा, बोल उठा—'स्वागतम्, स्वागतम्, सुस्वागतम्। आओ! बैठो, स्वागत स्वीकार करो।' राजा ने सुना, अचंभे में पड़ गया। राजा पिंजरे के पास जाकर तोते से बोला—'भाई! तुम आदमी की भाषा बोलते हो। मुझे एक रहस्य समझाओ। कुछ

समय पहले मैं एक बस्ती से गुजर रहा था। वहां एक पिंजरे में तोता था। उसने मुझे देखते ही कहा—आओ, लूटो, लूटो, पथिक जा रहा है। यहां आने पर तुमने कहा—स्वागतम्, स्वागतम्, सुस्वागतम्। इतना अंतर क्यों? तुम दोनों एक ही जाति के पक्षी हो। दोनों मनुष्य की भाषा में बोलते हो, फिर दोनों की वाणी में यह भेद क्यों?'

तोता बोला—'महाराज! क्षमा करें। हम दोनों एक जाति के ही नहीं, एक ही वंश के हैं, हम दोनों सगे भाई हैं। दोनों के माता-पिता एक हैं। मैं बड़ा हूं, वह छोटा है, पर है मेरा सगा भाई।'

राजा का आश्चर्य शतगुणित हो गया। उसने पूछा—'फिर दोनों की भाषा में, भावना में इतना अंतर क्यों?'

वह बोला—'राजन्! भावना के अंतर का रहस्य यह है—

मलिम्लुचानां स वचः शृणोति,
अहं तु राजन्! मुनिपुंगवानाम्।
प्रत्यक्षमेतत् प्रतिभाति सत्यं,
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।।

राजन्! वह तोता मेरा छोटा भाई है, मांसाहारी चोरों और डकैतों के साथ रहता है, उनके वातावरण में पला है। इसलिए वह लूटखसोट की बातें ही सीखता है, करता है। मैं सदा ऋषि-मुनियों के संसर्ग में रहता हूं, इसलिए अच्छाइयां सीखता हूं। आपने यह प्रत्यक्ष देख ही लिया कि—'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'—गुण और दोष संसर्ग के कारण आते हैं। जैसा संसर्ग वैसी ही फल-प्राप्ति। बुरे संसर्ग से दोष पनपते हैं और भले संसर्ग से गुणों में वृद्धि होती है।'

गुण और दोष—ये दोनों संसर्ग के कारण आते हैं, वातावरण के कारण आते हैं। वातावरण के प्रभाव से आदमी बुरा होता है। स्वच्छ और पवित्र वातावरण होता है कि उसमें पलने वाला बच्चा अच्छा हो जाता है और एक वातावरण ऐसा होता है, जिसमें पलने वाला अच्छा बालक भी बुरा बन जाता है, बिगड़ जाता है।

वातावरण का प्रभाव बहुत गहरा होता है। जो माता-पिता समझदार और चिंतनशील होते हैं, वे अपने बच्चों को प्रारंभ से ही अच्छे वातावरण में रखते हैं—बच्चे में जिससे अच्छाइयां जागें, गुण जागें और बुराइयां दूर हों। जो माता-पिता अपनी संतान की उपेक्षा करते हैं, उनके प्रति ध्यान नहीं देते, उनको अच्छा वातावरण उपलब्ध नहीं करा पाते हैं, वे बच्चे बिगड़ जाते हैं। हम देखते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे ऐसी भद्दी गालियां देने लग जाते हैं, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। बच्चा अनुकरणप्रिय होता है। प्रारंभ में वह अनुकरण से ही सब-कुछ सीखता है। वह सारी बुद्धि जब नकल से लेता है तो अबुद्धि कैसे छोड़ेगा? उसे भी लेगा, क्योंकि उसका विवेक अभी इतना विकसित नहीं हो पाया है कि बुद्धि और अबुद्धि में वह अंतर कर सके।

एक ही वंश-परंपरा में उत्पन्न दो शिशु भिन्न-भिन्न वातावरण के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के बन जाते हैं। उनमें इतनी भिन्नता हो जाती है कि उनके व्यवहार को देखने पर यह अनुभव नहीं होता कि ये दोनों सगे भाई हैं। राजा ने कब कल्पना की थी की दोनों तोते सगे भाई हैं! क्योंकि एक तोता लूटो-लूटो की रट लगा रहा है और दूसरा तोता स्वागतम्-स्वागतम् की रट लगा रहा है। दोनों की भाषागत भावना में आकाश-पाताल का अंतर है।

इस अंतर का कारण है वातावरण। वातावरण के कारण दोनों के मार्ग दो हो गए। एक चोरी के मार्ग पर चला गया और एक भक्ति के मार्ग पर चला गया।

परिवेश के तीनों निष्कर्ष परिवेश के अध्ययन से प्राप्त हुए हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के सामने तीन प्रकार के परिवेश या परिस्थितियां होती हैं— 1. बाहरी परिवेश। 2. आंतरिक परिवेश। 3. अंतरतम का परिवेश।

पूरे व्यक्तित्व की विवेचना करने के लिए हमें तीनों परिवेशों का अध्ययन करना होगा। इन तीनों के बिना आदमी के व्यक्तित्व, आचरण और व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती। सामाजिक, भौतिक और भौगोलिक वातावरण बाहरी परिवेश हैं। जिस प्रकार की सामाजिक, भौतिक और भौगोलिक परिस्थिति होती है, व्यक्तित्व वैसा ही बनता चला जाता है।

आंतरिक परिवेश या वातावरण शरीर के भीतर में काम करता है। हमारा शरीर भीतर और बाहर, बाहर और भीतर के बीच में एक सीमा करता है। इस शरीर की त्वचा से बाहर का संवेदन अनुभव होता है। जो बाहर का वस्तु-जगत है, वह है बाहरी वातावरण और जो इस त्वचा के भीतर, त्वचा के संवेदन से लेकर संपूर्ण शरीर के भीतर होने वाला संवेदन है, वह है आंतरिक परिवेश या आंतरिक वातावरण।

जो इस स्थूल शरीर की सीमा से परे, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर का वातावरण है, वह है अंतरतम का वातावरण।

जो आत्मवादी हैं, आत्मा और सूक्ष्म जगत में आस्था रखते हैं—वे तीनों परिवेशों के संदर्भ में व्यक्तित्व की व्याख्या करेंगे। जो नितांत भौतिकवादी हैं, सूक्ष्म जगत में विश्वास नहीं करते—उन्हें भी कम-से-कम बाहरी परिवेश और आंतरिक परिवेश, बाहरी वातावरण और शरीर के भीतर का वातावरण—इन दो परिवेशों में व्यक्तित्व की व्याख्या करनी पड़ेगी।

अध्यात्म का सिद्धांत है—स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश, स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान। श्वास स्थूल है, सरलता से पकड़ा जा सकता है। प्राण सूक्ष्म है, पकड़ा नहीं जा सकता। हम दूध और दही को देख सकते हैं, पर उसमें जो घी है—उसको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। घी उसमें है, यह हम जानते हैं। हम यह भी जानते हैं कि घी कहीं अलग से नहीं आ रहा है। वह दूध और दही से ही निष्पन्न होता है। दूध में घी है, पर उसे पकड़ा नहीं जा सकता। दही में घी है, पर उसे पकड़ा नहीं जा सकता। दूध और दही से घी को निकालने के लिए भिन्न प्रवृत्ति का, प्रक्रिया का प्रयोग करना होता है। इसी प्रकार श्वास के कण-कण में प्रवहमान प्राणधारा को पकड़ना भी प्रयोग-सापेक्ष है। श्वास बाहर आता है, भीतर जाता है—क्यों? वह अपने-आप न भीतर जाता है और न अपने-आप बाहर आता है। श्वास भीतर जाता है प्राणधारा के साथ और बाहर आता है प्राणधारा के साथ। श्वासनली विद्यमान है, बाहर वायु भी है, पर प्राण चला गया तो क्या श्वास भीतर जाएगा? क्या श्वास बाहर आएगा? नहीं। वह जहां है, वहीं रह जाएगा। भीतर का भीतर और बाहर का बाहर। जहां प्राण समाप्त, वहां श्वास भी समाप्त। प्राणधारा के कारण ही सारे शरीर में प्रकंपन होते हैं, स्पंदन होते हैं। जितने भी 'वाईब्रेशंस' या 'मूवमेंट्स' होते हैं, वे सारे प्राणधारा के कारण होते हैं।

पहले अभ्यास में श्वास को पकड़ा जाता है और फिर प्राण को पकड़ने का अभ्यास चलता है। श्वास को पकड़ने के लिए जितनी एकाग्रता चाहिए उससे बीस गुनी एकाग्रता चाहिए प्राण को पकड़ने के लिए। अत्यंत सूक्ष्म है प्राण की धारा। श्वास, शरीर और इंद्रियों के भीतर काम करने वाली जो सूक्ष्म धारा है—वह है प्राणधारा। श्वास का एक प्राण है, इंद्रिय का एक प्राण है, और शरीर का एक प्राण है। भाषा का एक प्राण है। चिंतन का एक प्राण है। इन भिन्न-भिन्न प्राणों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। प्राणधारा एक ही है, पर कार्यभेद से उसका नामभेद कर दिया जाता है। जब प्राणधारा इंद्रियों से साथ जुड़ती है तब वह 'इंद्रिय प्राण' कहलाता है। प्राण की एक धारा श्वास के साथ जुड़ती है और वह श्वास प्राण बन जाता है। प्राण की एक धारा भाषा के साथ जुड़ती है और वह भाषा प्राण बन जाता है। प्राण की एक धारा मन के साथ जुड़ती है और वह 'मनप्राण' बन जाता है, 'मनोबल' बन जाता है। सारा बल, सारी सक्रियता और सारी शक्ति प्राणधारा के कारण आती है।

इस शरीर के भीतर अंतर के वातावरण में दो मुख्य-तत्त्व कार्य निष्पादित करते हैं—विद्युत और रसायन। मनुष्य के व्यवहार और आचरण की व्याख्या करने के लिए प्राण-विद्युत और रसायनों को जानना आवश्यक है। प्रत्येक कोशिका विद्युत पैदा करती है। शरीर की प्रत्येक कोशिका के आस-पास अपना बिजलीघर है। मस्तिष्क में बिजली पैदा होती है। बिजली के बिना मस्तिष्क काम नहीं कर सकता। बिजली के बिना शरीर का कोई अवयव, छोटा हो या बड़ा, काम नहीं कर सकता। सारे शरीर में प्राण-विद्युत (बायो इलेक्ट्रीसिटी) और रसायन काम करते हैं। मनुष्य की अंतःस्रावी ग्रंथियों से स्राव होता है और वह रक्त के साथ मिलकर व्यक्ति को प्रभावित करता है। मनुष्य की संवेगात्मक अवस्थाएं, मानसिक विकास के बिंदु, व्यवहार की सारी प्रणालियां, सारे व्यवहार और आचार इन रसायनों के द्वारा प्रभावित होते हैं। व्यवहार और आचार को देखकर जाना जा सकता है कि अभी वर्तमान में व्यक्ति किस रसायन से प्रभावित हो रहा है? कौन रसायन उसे इस प्रकार के आचार-व्यवहार के लिए प्रेरित कर रहा है? जब आदमी में क्रोध जागता है, अहंकार और वासना जागती है तब जान लिया जाता है कि अभी इस स्थिति में व्यक्ति की 'एड्रीनल ग्लॅण्ड' ज्यादा सक्रिय हो रही है। 'गोनाड्स और थायराइड ग्लॅण्ड' अधिक काम कर रही है। सारा व्यवहार इनसे प्रभावित होता है। व्यक्ति का आचरण बोलता है कि आदमी अभी किन-किन ग्रंथियों से प्रभावित हो रहा है। इन रसायनों को जाने बिना व्यक्तित्व की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती। व्यक्तित्व के पूरे विकास पर अंतःस्रावी ग्रंथियों के रसायनों का बहुत प्रभाव होता है। जब हम इस तथ्य से अज्ञात रहते हैं तब अनेक विरोधी बातें कर जाते हैं। कभी बाहरी परिस्थिति पर सारा दोषारोपण कर देते हैं और कभी किसी व्यक्ति-विशेष को उस घटना का उत्तरदाई बना देते हैं।

एक आदमी जा रहा था। पास में एक बैल था। उस पर 'गोणी' रखी हुई थी। आदमी ने अपना सारा भार गोणी के एक ओर भर दिया। गोणी बैल की पीठ पर टिक नहीं पा रही थी, क्योंकि उसका संतुलन बिगड़ गया था। गोणी के दो

पल्लों में समान भार डालने से ही संतुलन बना रह सकता है। भार को एक ही पल्ले में डाल देने के कारण न बैल चल पा रहा था और न ही भार टिक रहा था। आदमी ने भार को एक ही पल्ले में रखा और दूसरे पल्ले में हाथ डालकर शक्ति लगाई, जिससे भार और शक्ति में संतुलन हो जाए। कुछ दूर चला। हांफने लगा। सामने से एक पथिक आ रहा था। उसने कहा—'अरे मूर्ख! यह क्या कर रहे हो? तुम्हारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है। तुम भी कष्ट पा रहे हो और बैल भी कष्ट पा रहा है। तुम वज्रमूर्ख हो।'

उसने कहा—'क्या करूं? संतुलन कैसे बनाऊं?'

पथिक बोला—'आधा भार निकाल कर दूसरे पल्ले में डाल दो, संतुलन बन जाएगा।' उसने वैसा ही किया। संतुलन बन गया। शक्ति का निरर्थक व्यय रुक गया और उसका मार्ग भी सुख से कट गया। बहुत बार आदमी सारा भार एक पल्ले में डाल देता है और संतुलन बनाए रखने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करता है, शक्ति का अपव्यय करता है।

आदमी सारा भार परिस्थिति पर डाल कर मुक्त हो जाना चाहता है। दूसरे सारे निमित्त गौण हो जाते हैं, खाली रह जाते हैं। वह तब अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क-वितर्क देता है, मस्तिष्क की शक्ति लगाता है, फिर भी संतुलन स्थापित नहीं कर पाता। कितना अच्छा हो कि आदमी दोनों पल्लों को संभाले, दोनों के संतुलन के लिए अपेक्षित भार डाले। वह एकांततः ऐसा न माने कि जैसी बाहर की परिस्थिति होती है, आदमी वैसा ही बन जाता है। यह एकांगी धारणा है। समग्र या यथार्थ अवधारणा यह होनी चाहिए कि बाहरी परिस्थिति भी व्यक्ति को प्रभावित करती है और अंतर की परिस्थिति भी आदमी को प्रभावित करती है। इन दोनों के साथ-साथ अंतरतम की परिस्थिति का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़ता है।

जब अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव रक्त के साथ मिलते हैं, तब व्यवहार प्रभावित होता है और आदमी विचित्र प्रकार के व्यवहार करने लग जाता है। हम समझ नहीं पाते। बड़ी कठिनाई होती है। कभी-कभी बच्चे के असामान्य व्यवहार को देख माता-पिता भी उलझन में पड़ जाते हैं। गुरु भी शिष्य के व्यवहार से उलझन में पड़ जाते हैं और हितैषी भी कठिनाई में पड़ जाते हैं।

एक घर का सारा वातावरण स्वच्छ और सुलझा हुआ है। कोई कठिनाई नहीं है। फिर भी माता-पिता को महसूस होता है कि लड़का बिगड़ता जा रहा है। ऐसा क्यों होता है? प्रश्न उभर आता है। पर इस प्रश्न का समाधान खोजा जा सकता है। यह सही है कि बाहरी परिस्थिति अनुकूल है और उस परिस्थिति में लड़के का बिगाड़ संभव नहीं है। इस स्थिति में आंतरिक परिस्थिति पर ध्यान केंद्रित करना होगा। यह देखना होगा कि बीमारी पहली श्रेणी में है, दूसरी में है या तीसरी में पहुंच चुकी है। यदि पहली 'स्टेज' की बीमारी है तो उसकी चिकित्सा यह होनी चाहिए कि बाहरी वातावरण को बदला जाए, जिससे कि बच्चा अच्छा बन सके। जब यह ज्ञात हो जाए कि बीमारी पहली 'स्टेज' की नहीं है, सब अनुकूलताएं हैं, और वह बीमारी दूसरी श्रेणी पर पैर रख चुकी है, तो भीतरी परिस्थिति पर ध्यान केंद्रित करना होगा।

मनोविज्ञान में 'टेंपर टेंट्रा' नाम की बच्चों की बीमारी है। वह दो-तीन वर्ष के बच्चों में होती है। इस बीमारी के कारण बच्चा असाधारण व्यवहार करने लग जाता है। उसका सारा व्यवहार अस्वाभाविक होता है। वह बहुत गुस्सा करने लगता है, रोता है, चिल्लाता है, मारने दौड़ता है, वस्तुओं को इधर-उधर फेंक देता है, मचलता है, और भी अनेक चेष्टाएं करने लग जाता है। ये सारी चेष्टाएं वह यों ही नहीं करता। वह एक बीमारी है, जो बच्चों में ही होती है। यदि इस बीमारी को न समझा जाए तो बच्चा बिगड़ जाता है। इस स्थिति में बच्चा बाहरी साधनों से स्वस्थ नहीं होता। यदि माता-पिता समझदार होते हैं तो वे बच्चों को पीटेंगे नहीं, गालियां नहीं बकेंगे।

कुछेक माताएं सारे दिन बच्चों को गालियां देती रहती हैं, बुरा-भला कहती रहती हैं, मारती रहती हैं। यह बच्चों को बिगाड़ने की मशीन है, जो बराबर चल रही है। इस प्रक्रिया से बच्चे बिगड़ते हैं, सुधरते नहीं। वे बच्चे इतने बिगड़ जाते हैं कि बड़े होकर माता-पिता को भी चेतावनी दे देते हैं।

यह अनर्थ अज्ञान के कारण होता है। आदमी नहीं जानता कि बच्चों की आदतों को कैसे बदला जाए? आदमी को चाहिए कि वह स्वयं की आदतों को भी बदले।

ध्यान के द्वारा यह संभव है। ध्यान के द्वारा आदमी मानसिक दशा का निर्माण कर सकता है कि किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए, संतुलन कैसे बनाए रखा जा सकता है। यदि माता-पिता संतुलन बनाए रखते हैं तो बच्चों को जटिल परिस्थिति में से उबार कर उन्हें सुधार सकते हैं। जब बच्चा 'टेंपर टेंट्रा' की बीमारी से ग्रस्त होता है और माता-पिता उसे दुत्कारते हैं, मारते-पीटते हैं तो वह बीमारी बढ़ती है, मिटती नहीं। और, यदि उस बीमारी की अवस्था में माता-

पिता बच्चे को स्नेह देते हैं, सांत्वना देते हैं, प्रेम और प्रसन्नता दिखाते हैं तो धीरे-धीरे वह बीमारी मिटनी शुरू हो जाती है और बच्चा सामान्य व्यवहार करने लग जाता है। यदि उस स्थिति में माता-पिता भी वैसी ही प्रतिक्रिया करने लग जाएं जैसी प्रतिक्रिया बच्चा कर रहा है, जैसे बच्चा वस्तुएं फेंकता है, माता-पिता भी गुस्से में आकर वैसे बच्चे को ही फेंकने लग जाएं, तो निश्चित ही वह बच्चा बड़ा होने पर माता-पिता को फेंकने की तैयारी करेगा।

हम आंतरिक परिस्थितियों पर भी ध्यान केंद्रित करें। हम यह सोचें कि बाहरी परिस्थितियों की अनुकूलता होने पर आदमी बुरा क्यों हो रहा है? इस स्थिति में हमें नए दृष्टिकोण से सोचना होगा। वहां एक प्रकाश-रेखा की जरूरत होगी, केवल अंधेरे में हाथ-पैर मारने से काम नहीं चलेगा। वहां प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण से सोचना भयंकर हानिकारक हो जाएगा। सामान्यतः आदमी की धारणा प्रतिक्रियात्मक होती है, इसलिए समाधान हस्तगत नहीं होता।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करते समय साधक एक संकल्प स्वीकार करता है। वह कहता है—'मैं प्रतिक्रिया से बचूंगा। जो-कुछ करूंगा, वह क्रिया ही करूंगा, प्रतिक्रिया नहीं करूंगा।' बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधना है—प्रतिक्रिया-विरति।

सामने कोई प्रतिक्रिया आई और यदि आदमी भी वैसा ही बन जाए, प्रतिक्रिया करने लग जाए तो—यह 'जैसे का तैसा' का सिद्धांत आदमी को बनाने का सिद्धांत नहीं, बिगाड़ने का सिद्धांत सिद्ध होता है। यह व्यक्तित्व निर्माण का सिद्धांत नहीं, व्यक्तित्व को असमय में ही मार डालने का सिद्धांत होगा। हम अनुस्रोत में नहीं, प्रतिस्रोत में चलें। प्रतिक्रिया के प्रति प्रतिक्रिया न करें, क्रिया करें।

भगवान महावीर ने कहा है—

अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि, पडिसोयलद्धलक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं॥

समूचा जगत अनुस्रोतगामी है। सारे लोग अनुस्रोत में चलते हैं। साधक वह होता है जो प्रतिस्रोत में चले, प्रवाह के प्रतिकूल चले। जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है उसे प्रतिस्रोतगामी होना ही पड़ेगा।

हम प्रवाह के प्रतिकूल चलना सीखें। भाई, बेटा, मित्र या पड़ोसी, जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उसी प्रकार का व्यवहार करके हम उस खाई को और अधिक लंबा-चौड़ा कर सकते हैं, विरोध को उग्र कर सकते हैं—इससे कभी समाधान नहीं होगा। इसका समाधान पाना हो तो प्रतिक्रिया-विरति की साधना करनी होगी। प्रतिक्रिया से मुक्त होकर, क्रिया का सहारा लेना ही प्रतिस्रोत में बहना है। यही समाधान का एकमात्र मार्ग है।

एक आदमी मोमबत्ती ढूंढ़ रहा था। नौकर आया। उसने पूछा—'मालिक! क्या कर रहे हैं?' वह बोला—'मोमबत्ती ढूंढ़ रहा हूं।' नौकर बोला—'मालिक! अंधेरा है, कैसे दीखेगी। बिजली जला लें तो मोमबत्ती ढूंढ़ने में सरलता होगी।' मालिक बोला—'मूर्ख हो तुम! यदि बिजली होती तो मोमबत्ती ढूंढ़ता ही क्यों? बिजली नहीं है इसीलिए तो मोमबत्ती ढूंढ़ रहा हूं।'

आदमी बिजली जलाने के भ्रम में उलझ जाता है और मोमबत्ती को खोजने की बात को छोड़ देता है। यह सच है कि जब बिजली है तो मोमबत्ती क्यों ढूंढ़ी जाए? मूल बात है प्रकाश की खोज। आदमी की यह प्रकृति है कि उसे अंधेरा प्रिय लगता है। वह बाहर प्रकाश चाहता है, पर अंतरंग में उसका अनुराग अंधेरे से है। वह चाहता है क्षमा, पर क्रोध उसे अच्छा लगता है। जितना विश्वास हिंसा में है, उतना अहिंसा में नहीं।

आदमी अहिंसा की बात को आगे रखता है, क्षमा और प्रकाश के सिद्धांतों को सामने रखता है, पर आचरण करता है हिंसा का, क्रोध का और अंधकार का। वह उसका 'विभक्त-व्यक्तित्व' है। सिद्धांत एक प्रकार का होता है और अंतरंग में दूसरे प्रकार की आकांक्षा होती है। क्रोध के प्रति हमारी जितनी आस्था है, यदि वह क्षमा के प्रति होती तो हम क्षमावान अधिक होते, क्रोधी कम। हिंसा के प्रति हमारी जितनी आस्था है, यदि वह अहिंसा के प्रति होती तो हम अहिंसक अधिक होते, हिंसक कम। हम अहिंसक कम हैं, हिंसक अधिक। क्षमावान कम हैं, क्रोधी अधिक। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारी आस्था हिंसा में अधिक है—अहिंसा में कम, हमारी आस्था क्रोध में अधिक है—क्षमा में कम।

हम प्रकाश की बात करते हैं प्रकाश की खोज नहीं करते। प्रकाश की खोज करने वाले व्यक्ति को भीतर में डुबकियां लगानी पड़ेंगी। जो व्यक्ति केवल बाहर ही बाहर झांकता रहता है, वस्तु-जगत को ही देखता रहता है, वस्तु-जगत की ही प्रेक्षा करता रहता है—वह कभी प्रकाश को उपलब्ध नहीं हो सकता। यदि वस्तु-जगत की प्रेक्षा से प्रकाश उपलब्ध हो जाता तो फिर श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा करने

की जरूरत नहीं होती। वस्तु-जगत की प्रेक्षा में आनंद है, सुखानुभूति है, आकर्षण है। कभी कुछ और कभी कुछ। आदमी देखते-देखते तृप्त ही नहीं होता। जितना आकर्षण है उसमें, उतना संभवतः ध्यान-साधना में नहीं है, फिर भी आज का आदमी ध्यान के प्रति आकृष्ट है। इसका फलित यह है कि आदमी वस्तु-जगत को देखते-देखते मन में इतना ऊब गया है, इतना तनाव-ग्रस्त हो गया है कि बाहर से हटकर भीतर में झांकना चाहता है। बाहरी प्रेक्षा करते-करते आदमी में इतनी जटिलता आ गई है, इतनी मानसिक बेचैनी हो गई कि वह बाहर से हटकर भीतर झांकना चाहता है और इसीलिए वह ध्यान शिविरों में आता है। यहां उसे श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, अंतर्यात्राओं की प्रक्रियाओं से प्रक्रियाओं के भीतर झांकने के लिए प्रेरित किया जाता है। जैसे-जैसे वह भीतर जाएगा, उसे वह दीखना प्रारंभ होगा जो बाहर की दुनिया में उपलब्ध नहीं था। भीतर में रंग दिखाई देंगे, ऐसे रंग, जो बाहरी दुनिया में कभी नहीं देखे। इतना प्रकाश दिखाई देगा, जो बाहर कभी नहीं दिखा। भीतर की दुनिया में झांकते-झांकते ऐसे दृश्य दिखाई देंगे, जो डरावने भी हो सकते हैं और सुहावने भी हो सकते हैं।

भीतर का जगत विभिन्नता से भरा होता है। जब एक-एक कर पट खुलते जाते हैं तब दृश्यों की भरमार से आदमी घबड़ा जाता है। भीतर बहुत दृश्य संकलित हैं। वे एक ही प्रकार के नहीं होते। अनेक प्रकार हैं—उनके।

भीतर की प्रेक्षा ही वास्तव में प्रेक्षा है। उससे नया प्रकाश मिलता है, नए दृष्टिकोण का निर्माण होता है तथा नए प्रकार का व्यवहार और नए प्रकार का आचरण सामने उपस्थित होता है। हम समाधान खोजें भीतर के प्रकाश में हमारे व्यवहार का, हमारे आचरण का। बाहर में समाधान खोजते-खोजते जो लोग थक गए हैं, निराश हो गए हैं वे भीतर में समाधान खोजने का प्रयास करें। उनकी निराशा मिट जाएगी। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति ने भीतर में समाधान खोजना प्रारंभ कर दिया उसकी कोई समस्या ऐसी नहीं होगी जिसका समाधान न हो सके। जो केवल बाहर ही बाहर समाधान खोजते हैं, उनकी सारी समस्याएं समाहित हो जाएं, यह कभी संभव नहीं है। हमें बाहर की दुनिया से भीतर की दुनिया में प्रवेश करना होगा। हमें समाधान खोजना होगा, विद्युत के संदर्भ में और रसायनों के संदर्भ में। हमारी प्राण-विद्युत और अंतःस्रावी ग्रंथियों से स्रवित रसायनों में ही हमारे समाधान निहित हैं।

जो प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करते हैं उनका यह सूत्र बन जाना चाहिए, यह दृष्टिकोण बन जाना चाहिए कि वे समस्या का समाधान बाहरी वातावरण में ही नहीं खोजेंगे, भीतर भी उसकी खोज करेंगे, फिर वह समस्या चाहे व्यवहार या आचरण की हो, प्रकृति या स्वभाव की हो। यदि यह दृष्टिकोण निर्मित हो जाता है तो समाधान का पहला सूत्र हस्तगत हो जाता है। वह आदमी मिथ्यादृष्टि वाला होता है जो बाहर ही बाहर समाधान खोजता है। वह आदमी सम्यक्दृष्टि वाला होता है जो बाहर भी समाधान खोजता है और भीतर भी समाधान ढूंढ़ता है। ध्यान-साधना करने वालों की दिशा बदल जाती है। जो केवल बाहर में ही समाधान खोजने की दिशा थी, वह व्यापक बन जाती है, नई दिशा का उद्घाटन हो जाता है, नया आयाम उद्घाटित हो जाता है। वह अंतर में प्रवेश करता है और समाधान ढूंढ़ता है।

जब भीतर भी समाधान प्राप्त न हो तो व्यक्ति को तीसरे स्तर पर जाना होगा, वहां समाधान खोजना होगा। जब समाधान बाहर के वातावरण में भी नहीं मिला और अंतर के वातावरण में भी नहीं मिला, रसायनों के वातावरण में भी नहीं मिला—तब मान लेना चाहिए कि बाहरी परिस्थितियों के परिवेश का भी प्रभाव नहीं है और रसायनों के परिवेश का भी प्रभाव नहीं है। वह प्रभाव है—अंतरतम के परिवेश का। समाधान वहीं प्राप्त हो सकता है। तब समाधान उस सूक्ष्मतम जगत में खोजना होगा।

आयुर्वेद के आचार्यों ने कहा—रोग तीन प्रकार के होते हैं—1. बाहरी परिस्थिति के निमित्त से होने वाला रोग। 2. वात, पित्त और कफ—शरीर के इन तीन दोषों के असंतुलन से होने वाला रोग। 3. कर्मज रोग।

यह तीसरे प्रकार का रोग सूक्ष्म शरीर की बीमारी है। वहां न कोई कीटाणु हैं, न जर्मस् हैं, न वात, पित्त और कफ हैं, कुछ भी नहीं। वह कर्म से उत्पन्न है। वह कर्मज रोग है, केवल कर्मज रोग। वह पुराने संस्कारों के कारण उत्पन्न होता है।

अंतरतम का परिवेश है, तीसरा आयाम। हम तीनों आयामों—स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर में प्रस्थान करें। एक आयाम में हम न अटकें, न उलझें। हम दूसरे आयाम में जाएं और फिर तीसरे में प्रवेश करें। तीनों आयामों में जाकर ही हम अपने व्यक्तित्व को पूरा व्याख्यायित कर सकते हैं और समाधान पा सकते हैं। ❖

कर्म चाहे छोटा हो या बड़ा, वह इस प्रकार करें कि उससे समाज को मोक्ष मिले। इस प्रकार करें कि वह समाज के उपयोग में आ सके। इस प्रकार करें कि वह समाज की पूजा के काम में आ सके। चाहे लेख लिखिए, चाहे भाषण दीजिए—मन में यह विश्वास पैदा हो कि हमारा बोला हुआ शब्द या लिखी हुई पंक्ति समाज के भले के लिए है। सब लोगों की यही निष्ठा बने कि मेरा दिया हुआ माल समाज को पुष्ट करेगा, उसे रोगी नहीं बनाएगा। चाहे बौद्धिक भोजन हो, चाहे शारीरिक—वह ऐसा हो कि उससे समाज हृष्ट-पुष्ट बने। समाज को विषैला भोजन मत दीजिए। हम इस प्रकार के दिव्य कर्ममय जीवन की लगन सबमें पैदा करें। 'मोक्ष नहीं है मुश्किल हमको'—मोक्ष दरवाजे में है, खेत में है, कचहरी में है, चूल्हे के पास है, कारखाने में है, स्कूल में है, सर्वत्र है।

❑

मोक्ष और कर्म : एक विवेचन

❑ पांडुरंग सदाशिव साने ❑

हम यह देख चुके हैं कि व्यक्ति को अपने वर्ण अर्थात् गुण-धर्म के अनुसार समाज की सेवा करनी चाहिए। प्रश्न उठ सकता है कि यह सेवा कैसे उत्कृष्ट हो सकती है? और, इस सेवा के कार्य से हम किस प्रकार मुक्त हो सकेंगे?

और फिर मुक्त होने का भी क्या मतलब? मुक्त होने का अर्थ है, बंधन में न होना। मुक्त होने का अर्थ है, अपने को स्वतंत्र अनुभव करना। यह अनुभव होना कि हमारे ऊपर किसी का दबाव नहीं है। यही मुक्त होना है। न तो वासना के और न संसार की सत्ता के ही गुलाम होना और अपनी आत्मतुष्टि से, आनंद से और उत्साह से कर्म करते रहना ही मोक्ष है।

हम हजारों कर्म करते रहते हैं, लेकिन हमारे ऊपर उनका बोझ रहता है, हम उन कर्मों से घबरा जाते हैं, त्रस्त हो जाते हैं, रुआंसे हो जाते हैं। यह सब क्यों होता है? इसके दो कारण हैं—पहला यह कि हम जो कर्म करते हैं, वे हमारी पसंद के नहीं होते, वे हमारे 'वर्ण' के नहीं होते। वे परधर्म होते हैं, लेकिन उसे मोह से हम अंगीकार कर लेते हैं। इस प्रकार यह परधर्म भयावह ही होगा, हमें संत्रस्त करेगा।

किसी शिक्षक को ही लीजिए। जिसे शिक्षा के काम में रुचि नहीं होती, बच्चों के हार्दिक तथा बौद्धिक विकास में जिसे दिलचस्पी नहीं होती—उसे अध्यापन-कार्य में कैसे आनंद आ सकता है? वह बच्चों का होमवर्क (घर का काम) जांचते हुए मन में दुखी होगा। उनके प्रश्नोत्तरों की जांच करते हुए वह उन पर सरासर लकीरें बनाता जाएगा। उनकी शंकाएं सुनकर चिढ़ने लगेगा। उसे नवीन ग्रंथ पढ़ना भारी मालूम होगा। ऐसे शिक्षक के मन में हमेशा यह खयाल रहेगा कि दीवाली की छुट्टियां कब आएंगी! बड़े दिन की छुट्टियां कब आएंगी! गर्मी की छुट्टियां कब आएंगी! शिक्षक का काम उसकी छाती पर सदा बोझ की तरह सवार रहता है। वह भूत हमेशा उसकी गरदन पर सवार रहता है, लेकिन पेट भरने के लिए वह रोते-रोते और चिढ़ते-चिढ़ते सब-कुछ करता रहता है। वह उसका 'वर्ण' नहीं होता।

आज सारे समाज में यही बात दिखाई दे रही है। आज तो 'वर्ण' के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अतः हर कोई काम हर कोई आदमी करने लगा है। आज तो यह हो रहा है कि चाहे आपको यह पसंद हो या न हो, वह गुण-धर्म आपमें हो या न हो, लेकिन चूंकि पेट के लिए पैसा उससे मिलता है, अतः उस काम को ले लीजिए और किसी तरह भी कीजिए। जिस समाज में इस तरह के कर्म होते हैं वहां तेजस्विता किस प्रकार आ सकेगी? वह समाज सुखी-समृद्ध कैसे हो सकेगा?

जिस समाज के कर्मों में तेजस्विता नहीं, आनंद नहीं, उत्साह नहीं, श्रद्धा नहीं, उस कर्म से काम करने वाले को भी संतोष नहीं होता और ठीक प्रकार कर्म न होने से समाज का भी नुकसान होता है। स्वयं अपना अधःपतन और समाज का भी अधःपतन। अपनी प्रतारणा और समाज की वंचना।

जो काम हमारी पसंद के होते हैं, हमें उनसे अरुचि नहीं होती। यदि हम कोकिल से कहें कि 'तू आज छुट्टी मना, 'कुहू-कुहू' मत बोल।' तो वह कहेगी कि 'यदि मुझे एक बार खाना न मिले तो चल सकता है, लेकिन मुझे 'कुहू-कुहू' बोलने ही दो। इसमें मुझे कोई कष्ट नहीं होता। वह तो मेरा आनंद है। 'कुहू-कुहू' बोलना ही मेरा जीवन है।' सारी दुनिया में यही बात है। सूर्य, चंद्र, तारे आदि इतवार की छुट्टी नहीं मनाते, समुद्र निरंतर गर्जना कर रहा है, नदियां जब तक जीवन होता है, निरंतर बहती रहती हैं। जब तक जीवन है तब तक विश्राम नहीं। विश्राम की आवश्यकता भी नहीं है। कर्म ही मानो विश्रांति है, क्योंकि कर्म ही आनंद है।

बच्चे खेलते हैं। उस समय उन्हें कितनी मेहनत करनी पड़ती है; परंतु उन्हें उस मेहनत का बोझ अनुभव नहीं होता। जबकि उनकी इच्छा के विरुद्ध आधा मील जाने को उन्हें कहिए; वह उन्हें भारी मालूम होगा। उनके पैर दुखने लगेंगे। जिस कर्म में आत्मा रंग नहीं जाती, हृदय समरस नहीं होता है—वह कर्म मृत्यु-जैसा हो जाता है, वह कर्म मानो शृंखला बन जाता है। हम सब इस प्रकार के 'वर्णहीन' कर्म की शृंखला से रात-दिन बंधे हुए हैं। हम सब बंधे हैं, कोई भी मुक्त नहीं है।

यदि कर्म को बोझा अनुभव नहीं करना चाहते हैं तो स्वधर्म की खोज करें। स्वधर्म का मतलब यह है कि अपने-अपने वर्ण की खोज कीजिए। अपनी पसंद का सेवा-कर्म हाथ में लीजिए। उसमें अपना मन रम जाएगा, रंग जाएगा। मन में यह खयाल ही नहीं आएगा कि हमने इतने घंटे काम किया है। समय का कोई खयाल ही हमें नहीं रहेगा। हम काल के भी काल बन जाएंगे। यह चिंता न होगी कि संकट में न पड़ें, कि समय किस प्रकार काटा जाए!

यदि कर्म उत्कृष्ट करना है और उससे परेशान न होना है तो कर्म करने की रुचि होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि हम जिनके लिए काम करें उनके प्रति हमारे मन में प्रेम हो।

मन में कर्म के लिए प्रेम होना चाहिए और वह कर्म, जिसके लिए करना हो, उसके लिए भी मन में अपार प्रेम होना चाहिए। अध्यापन-कार्य में रुचि होनी चाहिए और बच्चों के प्रति प्रेम होना चाहिए; तभी शिक्षक शिक्षा के कर्म में रंग सकेगा। वह कर्म उसे बांधने के बजाए मुक्त करेगा। वह कर्म उसे सारे बच्चों के हृदय से, सारे छात्रों की आत्मा से जोड़ देगा। उस कर्म से शरीर में बंद उसकी आत्मा बाहर की अनंत आत्माओं के साथ समरस बनेगी। बस; यही मोक्ष है।

कर्म, जो हमारी छाती पर चढ़ बैठता है, उसका एक कारण है उस कर्म से हमारी अप्रीति और दूसरा कारण यह कि जिनके लिए कर्म करना है उनके प्रति भी अप्रीति। यदि ये दोनों कारण दूर हो जाएं तो मोक्ष पास आ जाएगा। कर्म के प्रति प्रेम पैदा कीजिए और उस कर्म का जिन लोगों से संबंध है—उनके प्रति भी प्रेम पैदा कीजिए।

उदाहरणस्वरूप, दवाखाने को ही लें। वहां कोई परिचारिका तो होगी ही। यदि उसे सुश्रूषा का काम पसंद है, वह उसका 'वर्ण' है; लेकिन यदि बीमार व्यक्ति के प्रति उसके मन में प्रेम नहीं है तो वह कर्म उतना उत्कृष्ट नहीं हो सकता। जिस रोगी के प्रति उसे अपनापन अनुभव होगा, प्रेम अनुभव होगा—उसकी सेवा करने में उसे घबराहट नहीं होगी। जिसके प्रति उसके मन में प्रेम नहीं है, उसकी भी सेवा-सुश्रूषा तो वह करेगी; लेकिन वह सेवा उसे मुक्त नहीं करा सकेगी। उसे वह सेवा बोझा प्रतीत होगी।

माता अपने बच्चों की सेवा कितने प्रेम से करती है! उस सेवा से उसे त्रास नहीं होता। किसी मां के बच्चे को बीमार पड़ने दीजिए। वह रात-दिन उसके सिर और पैरों के पास बैठती है। आप उससे कहिए—'मां, तुमने बहुत तकलीफ सहन की। तुम बहुत थक गई हो। मैं इस बच्चे को अस्पताल में भरती कर देने की व्यवस्था कर देता हूं।' तो वह क्या कहेगी? 'तकलीफ कैसी? यदि दो हाथ के बजाए मेरे दस हाथ होते तो मैं और सेवा करती। यह सेवा ही मेरा समाधान है। यदि आप बच्चे को मुझसे दूर ले जाएंगे तो मुझे कष्ट होगा।'

संत लोग, जो बहुत-से सेवा-कर्म करके मुक्त हो गए हैं, उसका यही कारण है। कबीर कपड़ा बुनते थे। उन्हें कपड़ा बुनने में आलस्य नहीं आता था; वह उस कर्म में मग्न हो जाते थे। वह बेगार नहीं टालते थे—'मुझे यह वस्त्र समाजरूपी देवता को अर्पण करना है। उस कर्म-कुसुम से

मुझे समाज-सेवा की पूजा करनी है'—यह भावना उनके मन में रहती थी। इसीलिए उनके वे कर्म उत्कृष्ट होते थे। भक्ति-विजय में लिखा है कि कबीर बाजार में कपड़े सजाकर बैठते थे। लोग कपड़ों के नमूने देखते थे; लेकिन उन्हें खरीदने का साहस उन्हें नहीं होता था। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि इन कपड़ों की कीमत अनंत होगी। लोग कहते कि इन नमूनों की कीमत नहीं आंकी जा सकती। उन नमूनों पर लोगों की दृष्टि गड़ जाती थी। वे उन्हें देखते हुए खड़े रहते थे। ठीक भी है; वे साधारण कपड़े नहीं थे। उन कपड़ों में कबीर का हृदय उतर जाता था। जिस कर्म में हृदय उतर आता है, आत्मा उतर आती है, उसकी कीमत कौन लगा सकता है? उस कर्म से परमेश्वर मिलता है, मोक्ष प्राप्त होता है।

गोरा कुम्हार मटके बनाता था। वह उसका प्रिय कर्म था; लेकिन जिन ग्राहकों को मटके बेचे जाते थे, उनके लिए उसके मन में अपार प्रेम था। जनता में उसे मानो राम का ही रूप दिखाई देता था। लोगों को धोखा देने का विचार तो उसके मन में कभी नहीं आता था। वह यह तो सोचता ही नहीं था कि यदि आज बेची हुई मटकी कल फूट जाए तो जल्दी ही नई मटकियां बिक जाएंगी। गोरा कुम्हार इस वृत्ति से मटकी बनाता था कि पिता के द्वारा खरीदे हुए मटके बच्चे भी काम में लें।

तभी तो मटकों की मिट्टी खूंदते हुए उसे आलस्य नहीं सताता था। खूंदने का वह काम उसे वेद लिखने जितना, गणित के गहन सिद्धांतों जितना ही पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता था। उस मिट्टी को खूंदते-खूंदते वह अपने को भूल जाता था। यदि उस मिट्टी में उसका घुटनों के बल चलता हुआ बच्चा आकर कुचलने लगता तब भी उसे खयाल नहीं रहता। उसकी अंतर्दृष्टि के सामने जनता-जनार्दन का स्वरूप रहता था। उसे मटके खरीदने के लिए आता हुआ परमेश्वर दिखाई देता था। ऐसी ही तन्मयता से मोक्ष मिलता है। जीवन में अखंड आनंद प्राप्त होता है। उसे आनंद की कमी नहीं रहती। उस आनंद से अरुचि नहीं होती। वह निर्मल आनंद रोचक, अनंत, अखंड होता है।

यह प्रश्न नहीं उठता कि कर्म छोटा है या बड़ा। प्रश्न तो यह है कि कर्म करते हुए, हम अपने को कितना भूल जाते हैं? कर्म की कीमत अपने को भूल जाने में ही है। किसी म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष को लीजिए—वह लाखों लोगों की सेवा करता है, लेकिन उसका अहंकार भी यदि उतना ही बड़ा हो तो उस कर्म का कोई मूल्य नहीं।

आइए; इसका हिसाब लगाएं—

म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष का काम कितने ही लोगों की सेवा है, इसे अंश की जगह पर लिखें और इसके अहंकार को हर के स्थान पर लिखें।

तीन लाख जनता की सेवा

उतना ही अहंकार

इस अपूर्णांक की कीमत क्या है? कीमत एक।

आइए; अब एक मां का उदाहरण लें। वह केवल एक बच्चे की सेवा करती है, लेकिन सेवा करते हुए अपने को भूल जाती है। वह उस सेवा की रिपोर्ट लिखकर प्रकाशित नहीं करवाती। यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगे तो महाभारत-जैसी बन जाए। लेकिन, इतना करके भी उसे कुछ विशेष अनुभव नहीं होता। उसके कर्मों का हिसाब लगाएं—

एक लड़के की सेवा

पूर्ण निरहंकारिता (स्वयं को शून्य बना देना)

इस अपूर्णांक की क्या कीमत है? यदि एक को शून्य से भाग दें तो भाग कितनी बार जाएगा? कितने का भी भाग लगाइए वह अपूर्ण ही रहता है। एक में शून्य का भाग दें तो 1/0 या अपूर्णांक की कीमत अनंत रहती है और अनंत का अर्थ है—मोक्ष।

यदि कर्म में प्रेम हो, आत्मा हो तो एक छोटे-से कर्म से भी मोक्ष मिल जाता है। जब हम दक्षिणा देते हैं, तब उसे भिगोकर देते हैं। इसका क्या मतलब है? वह दक्षिणा चाहे एक पैसा हो, एक पाई हो; लेकिन उसमें हृदय की कोमलता है, इसीलिए वह पाई धनवानों के लाखों रुपयों के अहंकारपूर्ण दानों की अपेक्षा कई गुना श्रेष्ठ है। रुक्मिणी का भक्ति-भाव से भरा हुआ एक तुलसी-पात्र सत्यभामा के सोने-चांदी व हीरे-माणिक के ढेर से भी भारी सिद्ध होता है। अपने सर्वस्व का त्याग करने वाले शंकरजी की जटा का एक बाल कुबेर की संपत्ति से भी अधिक भारी सिद्ध होता है।

अतः भक्तिमय कर्म कीजिए। जिसके लिए कर्म करना है—उसी को भगवान मानिए। यदि हम ऐसा करने लगें तो अपने जड़ कर्मों से कितनी सरसता उत्पन्न हो सकती है, जरा इसका भी अनुभव कीजिए। मान लीजिए कि हमारा एक भोजनालय है। यदि हमारा कोई प्रिय भोजन करने के लिए आए, तो हम कितनी चिंता रखकर भोजन

बनाएंगे! कितने प्रेम से भोजन बनाएंगे! रोटियां सेंकते समय हमें कष्ट नहीं होगा, चटनी पीसते हुए हाथों में दर्द नहीं होगा। हम थाली साफ करेंगे, लोटा साफ करके उसमें पानी भरेंगे, साफ रूमाल रखेंगे, मक्खियां दूर रखने का प्रयत्न करेंगे। मन में ऐसा होता रहेगा कि मित्र के लिए क्या-क्या करें और क्या-क्या न करें। यदि अपने मित्र के लिए हम इतना सब करेंगे और ऐसी कामना रखेंगे कि हमारे यहां भोजन करने के लिए आने वाले मानों भगवान ही हैं, तो हमारे भोजनालय का स्वरूप कितना अच्छा हो जाएगा! वह कितनी स्वच्छता, कितना प्रेम, कितना सत्कार, कितना आनंद और कितना प्रसन्न वातावरण होगा! वह प्रत्यक्ष मोक्ष होगा। वहां लक्ष्मी अवतरित होती हुई दिखाई देगी।

समाज-सेवा का कोई भी काम लीजिए—चाहे स्कूल हो, चाहे भोजनालय हो, चाहे दुकान हो, चाहे हजामत बनाने की दुकान हो, चाहे तहसीलदार हो, चाहे म्युनिसिपल-अधिकारी हो—यह मत भूलिए कि हमें इस समाजरूपी ईश्वर की पूजा करनी है। फिर तो हमारे कर्म दिव्य हुए बिना न रहेंगे।

लेकिन, आज समाज में क्या दिखाई देता है? जब राज्यपाल का आगमन होता है, तब म्युनिसिपैलिटी जगती है। तब रास्ते साफ होते हैं, गटर धुलते हैं। लेकिन, म्युनिसिपल सीमा में जो लाखों लोग रहते हैं—वे क्या मुर्दे हैं? क्या उन्हें सफाई की आवश्यकता नहीं? क्या उन्हें गंदगी के नरक में रखना है? आज बड़े आदमी हमारे भगवान हो गए हैं। जब वे आते हैं तो हम अपना काम ठीक तरह करने लगते हैं। लेकिन, जब हम इस भावना से कर्म करने लगेंगे कि लाखों लोग भी भगवान हैं—तब हम भाग्यशाली बनेंगे, तभी हमें मोक्ष प्राप्त होगा, अन्यथा सर्वत्र निस्तेजता रहेगी। सारे समाज में मृतकावस्था ही रहेगी। हमारी दुकानें, हमारे होटल, हमारे भोजनालय, हमारी कचहरियां गंदगी, अव्यवस्था, लापरवाही और स्वार्थ से ओतप्रोत रहेंगे और सब लोग यही कहेंगे कि भारतीय संस्कृतिहीन है—इसमें कोई शक नहीं।

मोक्ष जप-तप में नहीं—धर्म में है, सेवा-कार्य में है, अपनी पसंद के काम में हृदय उड़ेल देने में है। समाजरूपी ईश्वर की यह कर्ममय पूजा है। इसे रसमय-गंधमय करना है। ऐसे कर्म का ही जप करना है। यह कर्म किस प्रकार उत्कृष्ट होगा, किस प्रकार तन्मयतापूर्वक होगा—यही चिंता हमें रखनी चाहिए।

गीता में कहा गया है—**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**— जप यानी निदिध्यास। कल की अपेक्षा आज का कर्म अधिक सुंदर हो, आज की अपेक्षा कल का काम अधिक सुंदर हो। इस प्रकार की भावना मन में रखना, इस प्रकार लगातार मन में अनुभव करना ही जप है—इसी से हम मोक्ष के अधिकारी होते हैं। यही वह व्याकुलता है—निर्दोष सेवा करने की व्याकुलता, निःस्वार्थ सेवा करने की व्याकुलता।

हमें रात्रि के समय प्रतिदिन के कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए। इन कर्मों का नैवेद्य लगाकर कहना चाहिए—'भगवान! अभी ये कर्म निर्दोष नहीं होते। अभी कर्म करते हुए मैं अपने को भूल नहीं पाता। अभी मेरे मन में कीर्ति की, मान की और पैसे की इच्छा है। मैं निंदा-स्तुति से जर्जर हो जाता हूं। लेकिन, आज की अपेक्षा कल अधिक सुंदर कर्म करूंगा। इसका प्रयत्न करूंगा।'

हमारे हाथ से पूरी तरह निर्दोष कर्म नहीं होता है, यह सोचकर मन में पश्चात्ताप होना ही धर्म है। यह जो अपूर्णत्व के आंसू आंखों से निकलते हैं, उन्हीं में से भक्ति का जन्म होता है। जर्मन कवि गेटे ने एक जगह कहा है—'जो कभी रोया नहीं, उसे ईश्वर नहीं दिखाई देगा।' अपनी अपूर्णता के आंसू से आंखें धुलती हैं, निर्मल होती हैं। सर्वत्र ईश्वर दिखाई देने लगता है और इस भगवान की सेवामय पूजा करने में अपार उत्साह और उल्लास अनुभव होता है।

इस प्रकार मन लगाकर कर्म कीजिए, फिर हमें कभी थकावट मालूम नहीं होगी। जनाबाई पीसते हुए कभी भी थकती नहीं थी। नामदेव के घर हमेशा संत आते थे, लेकिन जनाबाई उनकी प्रेममय भक्ति और ज्ञान की बातें सुनने के लिए नहीं जाती थी—वह पीसती रहती थी। 'आज मेरे घर भगवान आए हैं, उनके लिए अच्छी रोटी की जरूरत है। अनाज साफ करके मुझे बारीक आटा पीसना चाहिए।' इस प्रकार की भावना से जनाबाई अनाज पीसती थी। उनके हाथ थकते नहीं थे, मानो उन हाथों में ईश्वर आकर बैठ जाते थे। वे जनाबाई के हाथ नहीं रहते थे, वे तो भगवान के हाथ हो जाते थे। वह पिसाई मानो अपौरुषेय वेद हो जाती थी।

भक्तिमय कर्म में ऐसा ही आनंद है। उस कर्म में बोझ नहीं है। लकड़ी का मोटा-सा लट्ठा कितना भारी होता है? यदि किसी के सिर पर मारें तो उसकी समाप्ति ही समझिए। लेकिन, उस लकड़ी के लट्ठे में आग लगा दीजिए, उस दंड की चिमटीभर निरुपद्रवी राख बन जाएगी। कोमल राख खुशी से शरीर पर लगा लीजिए। वह चुभेगी नहीं, लगेगी

नहीं। यही हाल कर्म का भी है। जो कर्म भार रूप प्रतीत होते हैं, यदि वे ही भक्ति-भावना से करने लगें तो सहज प्रतीत होने लगते हैं। घर-घर जाकर खादी बेचना कितना कठिन है, लेकिन उस कर्म में भक्ति उंडेलिए, फिर तो वह खादी की गांठ मानो मोक्ष की ही गांठ प्रतीत होगी। फिर हम उस गांठ को जमीन पर नहीं रखेंगे। पुंडलीक के सामने प्रत्यक्ष परमेश्वर प्रकट हो गए। फिर भी उसने माता-पिता के पैर नहीं छोड़े। पुंडलीक जानता था कि इस सेवा-कर्म से ही भगवान प्रकट हुए हैं। यदि इस सेवा-कर्म को छोड़कर भगवान की ओर जाऊंगा तो भगवान चले जाएंगे। लेकिन जबतक मैं यह सेवा-कर्म करता रहूंगा, तबतक अट्ठाइस युगों तक यह पांडुरंग मेरे ही सामने खड़ा रहेगा और अपनी कृपादृष्टि की वृष्टि करता रहेगा। तुकाराम ने तभी तो बड़े प्रेम से लिखा है :

क्यों मत्त बना रे पुंडलीक
जो खड़ा रक्खा है विट्ठल को

(पुंडलीक, क्या तू मतवाला हो गया है? मेरे विठोबा को तूने निरंतर खड़ा रखा है।)

लेकिन, तुकाराम ने भी तो यही बात की। जब भगवान सामने आए तो कहने लगे—'मेरा भजन बंद नहीं रह सकता। सेवा-कर्म ही सब-कुछ है।

विट्ठल टाळ[1] विट्ठल दिंडी[2]
विट्ठल तोंडी उच्चारा
विट्ठल अवध्या भांवला[3]
विट्ठल बोला विट्ठल।
विट्ठल नाद विट्ठल भेद
विट्ठल छंद विट्ठल।
विट्ठल सुखा विट्ठल दुःखा
तुकयामखा विट्ठल।

इस अभंग में सारे जीवन का तत्त्वज्ञान आ गया है। हमारे कर्म, हमारे कर्म के साधन—मानो सब ईश्वर के ही रूप हैं। हमारा चर्खा ही मानो हमारा ईश्वर है। हमारी चक्की मानो हमारा ईश्वर है। हमारा चूल्हा मानो हमारा ईश्वर है। हमारा कारखाना मानो हमारा ईश्वर है। हमारा खद्दर मानो हमारा ईश्वर है। हमारी व्यायामशाला मानो हमारा ईश्वर है। वहां के उपकरण मानो हमारे ईश्वर हैं। प्रयोगशाला मानो ईश्वर है, वहां के गैस, वहां के एसिड मानो ईश्वर हैं। चारों ओर ईश्वर का ही रूप है।

चाहे राजनीतिक संगठन हो, मजदूरों का संगठन हो, किसान-संघ हो, युवक-संघ हो, ग्रामोद्योग हो, बड़े-बड़े कारखाने हों; व्यायामशाला खोलिए या औद्योगिक केंद्र शुरू कीजिए; यदि ये सारे सेवा-कर्म हैं तो ये मंदिर हैं। इनमें सब जगह विट्ठल हैं।

ये कर्म करते हुए चाहे सुख मिले, चाहे दुख—वह भी विट्ठल का ही रूप हैं। ये कर्म करते हुए चाहे गले में फांसी लगे, चाहे फूलों के हार पड़ें—दोनों समान हैं। मन में चंचलता पैदा नहीं होती। भक्ति के प्रकाश में सब सुंदर और सब मंगल ही हैं।

महात्मा गांधी से किसी ने एक बार एक प्रश्न पूछा—'आपकी इतनी आलोचना होती है, यह आपको कैसी लगती है?' उस महापुरुष ने कहा—'मेरे हृदय में तंबूरा बजता रहता है।' महात्माजी के हृदय में अखंड संगीत चलता था, वहां प्रक्षुब्धता नहीं थी। समुद्र में अनंत लहरें उछलती रहती हैं, लेकिन अंदर समुद्र गंभीर रहता है। वहां प्रशांत शांति रहती है।

महापुरुषों के लिए यह कैसे संभव होता है? इसलिए कि उनमें थोड़ा-सा भी स्वार्थ नहीं होता है। जनता की सेवा ही उनका एकमात्र ध्येय होता है। जब हम समुद्र में गोता मारते हैं, तब कितने घनफुट पानी हमारे सिर पर रहता है। हमें उस पानी का बोझ नहीं लगता। हम बराबर गोता लगाते हैं, पानी में छिपते हैं, खेलते हैं, थाह लेते हैं। लेकिन, पानी से बाहर आइए। अपने लिए एक घड़ा भरिए, यह घड़ा हमारे सिर को कष्ट दिए बिना न रहेगा। अपने सिर को, कमर को उसका बोझ मालूम हुए बिना न रहेगा।

केवल अपने सुख के लिए किया हुआ प्रत्येक स्वार्थी कर्म भार-स्वरूप है। मन को उसका बोझ लगता है। वह बोझ बन जाता है। लेकिन, कहिए कि यह कर्म जनता के लिए है, फिर बोझ नहीं होगा। जन-सागर में डूबिए, अपने बिंदु को जनता के सिंधु में मिला दीजिए। फिर तो जीवन में संगीत पैदा हुए बिना न रहेगा।

संसार का इतना पसारा फैलाने वाले ईश्वर को कितनी गालियां मिलती होंगी! यदि इस संसार में सबसे बड़ा हुतात्मा कोई है तो वह है—परमेश्वर। लेकिन, वह ईश्वर इस गाली और शाप की ओर ध्यान नहीं देता है। उसे जो उचित तथा परिणाम में हितकर प्रतीत होता है, उसे वह कर ही रहा है। उसे वह शांतिपूर्वक अविरत रूप से कर ही रहा है।

परमेश्वर का यही वर्णन महापुरुषों पर भी लागू होता

है। महापुरुष भी इसी प्रकार शांतिपूर्वक ध्येय पर नजर रखे हुए आगे बढ़ते जाते हैं। उनकी अपार निःस्वार्थता उनको अपार धैर्य प्रदान करती है। भय तो स्वार्थी को होता है। निःस्वार्थ वृत्ति को भय नहीं होता।

यह नहीं कि हमेशा एक ही कर्म करना पड़ता है। कभी-कभी हमेशा के 'वर्ण-कर्म' दूर रखकर दूसरे कर्म भी अंगीकार करने पड़ते हैं। आग लगने पर सबको दौड़ना चाहिए। भूकंप आने पर सबको स्वयंसेवक बनना चाहिए। बिहार में भूकंप हुआ था। जवाहरलालजी दौड़े। वहां स्वयंसेवक घबराए हुए खड़े थे। मिट्टी में से मुर्दे निकालने का साहस उनमें नहीं था। जवाहरलालजी ने हाथ बढ़ाए। उन्होंने कुदाली-फावड़े उठाए और खोदने लगे। अब तो सारे स्वयंसेवकों में स्फूर्ति आ गई। अवसर आने पर कोई भी काम क्यों न आ पड़े—उस कर्म में उतनी ही व्याकुलता से, उतनी ही लगन से जुट जाना चाहिए।

पहले भारतवर्ष गुलाम था। इस पतित राष्ट्र को स्वतंत्र बनाना ही उस समय सबका धर्म था। सबको अपनी रुचि-अरुचि को क्षणभर के लिए एक ओर रखना पड़ा और स्वतंत्रता के किसी-न-किसी काम में जुटना पड़ा। लोकमान्य ने वेद-वेदांत का, गणित-ज्योतिष का आनंद छोड़ा। यह उनका सबसे बड़ा त्याग है। स्वर्गीय गोखले को अर्थशास्त्र पर ग्रंथ लिखना था। उन्हें न्यायमूर्ति रानाडे का जीवन-चरित्र लिखना था, लेकिन ये सब एक ओर रखने पड़े। प्रफुल्लचंद्र राय को शास्त्र प्रिय थे। लेकिन बुढ़ापे में बंगाली ग्रामों में वह लोगों को चर्खा देते हुए घूमते थे। आज जिन-जिन कार्यों से राष्ट्र बलवान बने, वे सब कार्य हमें हाथ में ले लेने चाहिए। राष्ट्रोत्थान के अनेक उद्योगों में से जो अपनी पसंद हो, उसे ले लीजिए। परंतु जो-कुछ करें, उसे मन से कीजिए, रात-दिन उसका जप कीजिए। फिर वह उद्योग हमको मोक्ष प्रदान करेगा और राष्ट्र को भी मोक्ष दिए बिना न रहेगा।

एक जापानी मजदूर से किसी ने पूछा—'क्या तुम अच्छे स्क्रू बनाते हो?' उस मजदूर ने उत्तर दिया—'केवल अच्छे ही नहीं, मैं उत्कृष्ट स्क्रू बनाता हूं।' हम सबको भी यही उत्तर दे सकने के योग्य बनना चाहिए। जो यह कह सकता है कि मैं जो काम करता हूं वह सब उत्कृष्ट करता हूं—वह धन्य है।

कर्म चाहे छोटा हो या बड़ा, वह इस प्रकार करें कि उससे समाज को मोक्ष मिले। इस प्रकार करें कि वह समाज के उपयोग में आ सके। इस प्रकार करें कि वह समाज की पूजा के काम में आ सके। चाहे लेख लिखिए, चाहे भाषण दीजिए—मन में यह विश्वास पैदा हो कि हमारा बोला हुआ शब्द या लिखी हुई पंक्ति समाज के भले के लिए है। सब लोगों की यही निष्ठा बने कि मेरा दिया हुआ माल समाज को पुष्ट करेगा, उसे रोगी नहीं बनाएगा। चाहे बौद्धिक भोजन हो, चाहे शारीरिक—वह ऐसा हो कि उससे समाज हृष्ट-पुष्ट बने। समाज को विषैला भोजन मत दीजिए।

हम इस प्रकार के दिव्य कर्ममय जीवन की लगन सबमें पैदा करें। 'मोक्ष नहीं है मुश्किल हमको'—मोक्ष दरवाजे में है, खेत में है, कचहरी में है, चूल्हे के पास है, कारखाने में है, स्कूल में है, सर्वत्र है। समाज के नष्टप्रायः उद्योग को सजीव करके उसके द्वारा समाज को रोटी देने का प्रयत्न करने वाला महापुरुष वास्तव में संत है। वह समाज की गंदगी दूर करके उसे स्वच्छता सिखाने वाला एक बड़ा ऋषि है। ठीक इसी तरह चाहे कोई पुष्ट हो, पर यदि वे कर्मशून्य हैं, तो उनको अपनी तुच्छता का अनुभव होने दीजिए। केवल हरि-हरि बोलने वाले तथा भोग के लिए ललचाते रहने वाले लोगों को अपने को कीड़े-जैसा अनुभव करने दीजिए।

मुंह से राम बोलिए और हाथ से काम कीजिए, सेवा कीजिए। यदि हम केवल 'मां की जय' बोलते रहें तो, वह उसे पसंद नहीं आएगा। मां कहेगी—'मेरे लिए कुछ काम कर। जा, घड़ा भर ला।' यदि हम मां की सेवा न करते हुए केवल 'मां-मां' कहते हुए बैठे रहें, तो क्या वह दंभ नहीं होगा? भगवान के नाम का उच्चारण कीजिए और हाथ से लगातार सेवा करते रहिए। वह सेवा ही भगवान का नाम है। महात्माजी ने एक बार कहा था—'चर्खा मेरे ईश्वर का ही एक नाम है।' ईश्वर के हजारों नाम हैं। प्रत्येक मंगल वस्तु मानो उसका ही रूप है, उसका ही नाम है।

मुंह में ईश्वर का नाम और हाथ में सेवा का काम। कभी-न-कभी ईश्वर के ऐसे ही अपार प्रेम की अधिकता से अपने-आप कर्म हाथ से छूट जाएगा। मान लीजिए कि यदि आप अपने भोजनालय में भोजन करने वाले लोगों को इस दृष्टि से देखने लगें कि ये ईश्वर का ही स्वरूप हैं—तो किसी समय यह भावना इतनी बढ़ जाएगी कि आप परोसना भूल जाएंगे। आंखों से अश्रु फूट पड़ेंगे। आठों भाव एकत्र हो जाएंगे। रोमांच हो जाएगा।

कर्म का इस प्रकार छूट जाना ही अंतिम स्थिति है। वह कर्म की परमोच्च दशा है। उस समय सामने बैठे हुए लोग बिना भोजन किए ही तृप्त हो जाएंगे। परोसने वाले की

आंखों की प्रेम-गंगा से ही वे तृप्त हो जाते हैं। इसीलिए रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—'ईश्वर का नाम उच्चारण करते हुए जब तक तुम्हारी आंख नहीं भर आती तब तक कर्म मत छोड़ो।'

लेकिन, धन्यता की यह स्थिति प्राप्त किए बिना ही वे पापात्मा मस्त गयंद की तरह भोजन उड़ाते हैं और मुंह से ऊपर-ऊपर नारायण-नारायण कहते हैं। ऐसे लोगों को गोबर के गोले की भांति समाज को दूर फेंक देना चाहिए। भारतीय संस्कृति उन्हें इस प्रकार फेंक देने की ही बात कहती है।

भारतीय संस्कृति कहती है—किसी भी सेवाकर्म को लीजिए, लेकिन उसमें रम जाइए—निरहंकार बनिए, निःस्वार्थ बनिए। यह मत भूलिए कि आपको उस कर्म से समाज-रूप ईश्वर की पूजा करनी है और उत्तरोत्तर वह सेवाकर्म अधिकाधिक उत्कृष्ट करते हुए इस देह को छूट जाने दीजिए और उसका सोना बन जाने दीजिए। भारतीय संस्कृति का अर्थ है—सेवा की, कर्म की अपरंपार महिमा।

लेकिन, आज यह संस्कृति नष्ट हो गई है। यदि हम कर्मशून्य होकर रास्ते पर नारायण-नारायण जपते हुए बैठ जाते हैं तो हमारे सामने पैसों का ढेर लग जाता है। लेकिन, यदि हम मार्ग की गंदगी साफ करें, पाखाना उठाएं तो हमें पीने के लिए पानी भी नहीं मिलेगा। फिर पेट-भर भोजन करने की बात तो दूर ही है। कर्महीन लोगों की पूजा होती है और जिन लोगों का जीवन कर्ममय, श्रममय है—उनको ठुकराया जाता है, उनका पग-पग पर उपहास होता है। भारतीय संस्कृति की आत्मा कुचल दी गई है। जिन्हें भारतीय संस्कृति का अभिमान हो उन्हें उन लोगों की पूजा करनी प्रारंभ करना चाहिए, जिनका जीवन कर्ममय है :

झटक के आलस के सब भाव।
और रख भक्ति-मार्ग पर पांव।।
फिर तू पाएगा वह सुधाम।
जो मेरा अपना पुण्य धाम।।

यदि मोक्ष के, आनंद के परमधाम की आवश्यकता है—जहां किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं है, दुख नहीं है, वैषम्य नहीं है, दुष्काल नहीं है, दारिद्र्य नहीं है, अज्ञान नहीं है, गंदगी नहीं है, रोग नहीं है, लड़ाई-झगड़ा नहीं है, क्रोध-मत्सर नहीं है—उस परम मंगल स्वतंत्रता के धाम की आवश्यकता है तो सारे मिथ्याभिमान, सारी श्रेष्ठ-कनिष्ठ की दुर्भावनाएं, सारा आलस्य, सारा स्वार्थ, सारी भ्रामक कल्पना झटककर फेंक दीजिए और इस सेवामय-कर्ममय, वर्ण-धर्ममय भक्ति के मार्ग पर चलिए।

यही है हमारा मंत्र। यही है हमारी भारतीय संस्कृति।

❖

संदर्भ

1. झांझ जैसा एक वाद्य।
2. एक वाद्य।
3. पूंजी।

❖❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

प्रकाशजी मेरी ओर इस तरह देखते हैं जैसे सच ही जाने की आज्ञा चाह रहे हों। सुभाष, प्रकाशजी का छोटा भाई है और प्राण मेरा। प्रकाशजी करीब मेरी ही उमर के हैं। फिर भी अनजाने ही सब लोगों ने मिलकर मुझे अभिभावक का दर्जा दे दिया है।

लगभग तीन का समय है। प्यास धीरे-धीरे बढ़ रही है। उठने में कुछ कमजोरी का अनुभव कर रहा हूं।

प्राण—न्यू मार्केट, चौरंगी तथा लिंडसे स्ट्रीट की छोटी-छोटी दुकानों में घूम रहा होगा। सुभाष लास्ट पीरियड खतम होने की प्रतीक्षा में क्लास में बैठा होगा। अब नहीं ही उठूंगा। सुभाष आ जाएगा तो पानी उसी से मांग लूंगा।

कहानी

सहारा

❑ रामनारायण शुक्ल ❑

बचपन की बातें भी अजीब होती हैं। कितनी छोटी-छोटी बातों को लेकर लोग कितना खुश हो जाते थे, आज सोचकर आश्चर्य होता है। एकाएक कहीं कुछ पढ़ या जान लेने पर ढेर-सारा सुख हमारे पास आ जाता था।

मिडिल स्कूल की परीक्षा में मुझे स्कॉलरशिप मिली थी। हिंदी, भूगोल तथा गणित में डिस्टिंकशन मिला था।

भूगोल, सच ही मेरा बहुत प्यारा विषय था। मेरे पास भूगोल की दो किताबें थीं और दोनों का अक्षर-अक्षर मुझे याद था।

और उस दिन मास्टर साहब ने भूगोल के घंटे में कहा था—सहारा बहुत ही बड़ा रेगिस्तान है। दूर-दूर तक दिखाई पड़ने वाली बालू के सिवा यहां कुछ भी नहीं है। इसमें यात्रा करना बहुत ही कठिन है। लोग प्यास से घुट-घुटकर यहां मर जाते हैं। बालू की ऐसी आंधियां आती हैं कि कोई उनके बीच जीवित नहीं रह सकता।

और मैं सुनता ही रह गया था। शाम को घर आकर मैंने सहारा के बारे में विस्तार से पढ़ा था। पढ़कर रोमांच हो आया था। यह सोचकर मुझे एक अजीब-सी खुशी हुई थी कि मेरा जन्म सहारा में नहीं, हिंदुस्तान में हुआ है।

—गंगा-जमुना का द्वाबा बहुत ही अधिक उपजाऊ है। मैं पढ़कर खुश हुआ था। जन्म से लेकर आज तक के सारे दिन मेरे यहीं बीते थे।

—बंगाल बहुत हरा-भरा प्रदेश है। कलकत्ता हिंदुस्तान का सबसे बड़ा शहर है। मेरे पिता तथा परिवार के बहुत-सारे लोग कलकत्ते में ही रह रहे थे। और मैं यह सोच-सोचकर खुश हुआ करता था कि हरे-भरे बंगाल के बीच बसे हुए कलकत्ते में मैं जब चाहूं रह सकता हूं।

सहारा नहीं, गंगा-जमुना का द्वाबा और बंगाल। यह विचार ही मुझे किसी सुखद स्वप्न की सीमा तक पहुंचा देता था।

फिर भूगोल की वे किताबें न जाने कहां चली गईं और मैं एकाएक बड़ा हो गया। आज सोचता हूं तो भूगोल की छोटी-सी किताब के दो पेज पढ़कर ढेर-सारी खुशियों से भर जाने वाले समय से ईर्ष्या होती है।

❑ ❑ ❑

दोपहर को थोड़ी देर के लिए नींद आ गई थी। उठा तो सारा बदन पसीने से भीगा था। कुछ प्यास-सी लगी थी। इच्छा हुई प्राण को आवाज दूं। शायद बगल के कमरे में बैठा पढ़ रहा होगा। फिर याद आया, वह तो इस समय एस्प्लेनेड में होगा। हाथ में बैग लिए चौरंगी की किसी छोटी दुकान के सामने खड़ा होगा।

गर्मियों में यह टीन भी कितना अधिक तपती है। छत पर बने इन दो कमरों में जाड़ा, गर्मी, बरसात किसी में भी सुविधा नहीं होती। गर्मियों में टीन तपती है, सर्दियों में

ठंडक अधिक होती है और बरसात में जगह सिकुड़कर बहुत छोटी हो जाती है।

सुबह सब लोग कितने अधिक चिंतित हो गए थे। थर्मामीटर का पारा 104 पर जाकर टिक गया था। मैंने उनसे कहा भी था कि थर्मामीटर मैंने चौरंगी में किसी फेरीवाले से बारह आने में खरीदा था और इसका विश्वास नहीं, लेकिन उन्हें थर्मामीटर पर विश्वास था, मेरी बात पर नहीं। शायद वे सोच रहे थे कि मैं यह सब केवल उन लोगों को बहलाने के लिए ही कह रहा हूं।

सुभाष की ओर देखकर लगता था, जैसे वह अब रो ही देगा। प्रकाशजी एकाएक बहुत व्यस्त हो गए थे।

सब लोग चुप थे। मुझे ही कुछ कहना था। 'आप जाइए प्रकाशजी!' मैंने चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट लाकर कहा, 'मेरा नुकसान तो हो ही रहा है, आपका क्यों हो। साधारण बुखार है। यदि जरूरत हुई तो मैं प्राण या सुभाष को रोक लूंगा।'

प्रकाशजी मेरी ओर इस तरह देखते हैं जैसे सच ही जाने की आज्ञा चाह रहे हों। सुभाष, प्रकाशजी का छोटा भाई है और प्राण मेरा। प्रकाशजी करीब मेरी ही उमर के हैं। फिर भी अनजाने ही सब लोगों ने मिलकर मुझे अभिभावक का दर्जा दे दिया है।

लगभग तीन का समय है। प्यास धीरे-धीरे बढ़ रही है। उठने में कुछ कमजोरी का अनुभव कर रहा हूं।

प्राण—न्यू मार्केट, चौरंगी तथा लिंडसे स्ट्रीट की छोटी-छोटी दुकानों में घूम रहा होगा। सुभाष लास्ट पीरियड खतम होने की प्रतीक्षा में क्लास में बैठा होगा।

अब नहीं ही उठूंगा। सुभाष आ जाएगा तो पानी उसी से मांग लूंगा।

सुभाष जा नहीं रहा था। मैंने एक तरह से उसे डांटकर ही जाने के लिए मजबूर किया था।

पिछले तीन दिनों से प्रकाशजी के चेहरे की ओर देखा नहीं जाता। उनके जैसे स्वस्थ व्यक्ति के चेहरे पर चिंता देखकर सच ही बड़ा आश्चर्य होता है।

सब परीक्षाएं करीब-करीब खतम हो चुकी हैं और कोचिंग इंस्टीट्यूट अब बंद ही होने वाला है। पिछले साल भी हुआ था, लेकिन तब उनके कुछ मित्र गांव चले गए थे और बदले में बहुत-सारे अच्छे ट्यूशन उन्हें मिल गए थे। इस साल ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

प्रकाशजी उन तकलीफों की ओर इशारा करते हैं, जो कोई अच्छा-सा काम न मिलने पर उन्हें होंगी। मैं चुपचाप सुनता रहता हूं।

'आपने कभी इंप्लायमेंट एक्सचेंज में नाम लिखाया है? मेरा खयाल है, इस तरह के पार्ट-टाइम कामों की बनिस्बत बंधी नौकरी आपको अधिक सूट करेगी।' मैं कहता हूं।

'डेढ़ साल पहले मैंने नाम लिखवाया था। आज तक एक भी कॉल नहीं आई।'

'अखबारों का वांटेड कॉलम भी देखा जा सकता है।'

'बी. ए. की परीक्षा के बाद लगातार कई महीनों तक मैंने यही किया है। कभी कुछ नहीं हुआ। थोड़ा-सा भी पैसा होता तो बिजनेस कर लेता।'

मैं उनके चेहरे की ओर देखता हूं। थोड़े-से पैसों से बिजनेस किया जा सकता है। थोड़ी-सी जमीन पर खेती की जा सकती है। जिनके पास दोनों में से कुछ नहीं होता, वे नौकरी करने के लिए बाध्य हैं। और नौकरी का मिलना, न मिलना बराबर किसी अदृश्य शक्ति के हाथ रहता है। रेगिस्तान में पानी की खोज का जो मार्मिक वर्णन कभी मास्टरजी ने किया था, वह याद आ रहा है।

❑ ❑ ❑

'विश्वास मैं सबका करता हूं। यदि न करता होता तो कैसे मोहनलाल को डेढ़ सौ के स्ट्रैप्स क्रेडिट में देता।' मैं कहता हूं।

आदित्य धीरे से मुस्कराता है। 'सवाल विश्वास या अविश्वास का नहीं, तुम्हारे पैसे मिलने का है। और वे पैसे शायद ही मिलें। तुमसे किसी दिन मैंने कहा था कि किसी को उधार देने से पहले मुझसे जरूर पूछ लिया करो।'

'आखिर मैं करूं क्या? इस तरह धीरे-धीरे करके आठ-नौ सौ रुपये उधार हो गए।'

आदित्य फिर मुस्कराता है। 'करना क्या है! बिजनेस बंद कर दो। तुम्हारा नौ सौ रुपया बाजार में उधार है और तुम्हारे ऊपर डेढ़ हजार का उधार है। तब भी तुम छह सौ के फायदे में रहोगे।'

मेरा सिर चकराने लगता है। वर्षों बाद भी ऐसी बातें सुनने का अभ्यास नहीं हो पाया। आदित्य की मुस्कराहट बढ़ती जाती है।

'तुम जानते हो, मैं कभी ऐसा नहीं कर सकता। तुम मुझे दस साल से जानते हो और फिर भी ऐसी बात कहते हो।'

'दस क्या, सौ साल से जानता होता, तब भी यह कहता। कौन नहीं पवित्र और स्वस्थ जीवन बिताना चाहता! लेकिन उसके लिए कोई आधार भी तो हो।'

मैं कुछ नहीं कहता। मुझे प्रकाशजी का खयाल आ जाता है।

'वर्षों पहले मैंने कहा था, दुकान मत बेचो। दूसरों की तरह इसे स्मगल गुड्स से भर दो। अपने-आप चलने लगेगी। तुमने मेरी बात नहीं सुनी। और फिर इसी चौरंगी में मैंने तुम्हें बैग में स्मगल गुड्स लादकर घूमते देखा है। दुकानों में सप्लाई करते देखा है।'

मैं कुछ नहीं कहता।

'व्यवस्था ने हमें जकड़ दिया है। हम वही सब करने के लिए बाध्य हैं जिनके लिए हमारा मन स्वीकृति नहीं देता।'

मैं खड़ा हो जाता हूं। मैं जानता हूं, उसकी सारी बातें गलत होते हुए भी आज सही दिख रही हैं।

❑ ❑ ❑

जब भी कभी प्राण गुस्से में होता है, मेरे चारों ओर भय-सा छा जाता है। एक अजीब किस्म का डर। उसकी हर एक तकलीफ के लिए मैं अपने को अपराधी महसूस करता हूं।

'मैं वह काम नहीं करूंगा। सारा दिन बैग हाथ में लिए घूमते रहने पर भी कुछ नहीं होता। तुम मेरे लिए किसी से कहकर किसी नौकरी का प्रबंध क्यों नहीं करते?'

तीन साल पहले उसने सेकेंड डिवीजन से इंटर किया है। आगे नहीं पढ़ा पाया, इसका दुख आज तक है। बी. ए. हो जाता तो शायद नौकरी मिलने में आसानी होती।

'तुम थोड़े दिनों के लिए गांव चले जाओ। वहां मन भी बदल जाएगा और स्वास्थ्य भी ठीक हो जाएगा। इस बीच मैं भी देखता हूं, दूसरा क्या किया जा सकता है।'

वह कुछ नहीं कहता। उसके पीले-से चेहरे का भाव कभी नहीं बदलता। केवल इसमें एक हल्की-सी कंपकंपाहट तभी होती है जब वह गुस्से में होता है।

सैकड़ों रातें मैंने प्राण के बारे में सोचते हुए बिताई हैं। वह हमारा सबसे छोटा भाई है। मेरा जीवन यूं ही बीतता चला जा रहा है। क्या उसके साथ भी यही सब होगा? मैं सोचकर कांप जाता हूं।

प्राण गांव नहीं जाता। जब भी कभी मैं उससे गांव जाने की बात कहता हूं, वह बेचैन-सा हो जाता है।

ऐसे ही किसी दिन उसने मुझसे कहा भी था, 'आप क्या सोचते हैं, गांव जाकर किसी को अच्छा भी लग सकता है? वहां हत्या, मार-पीट, भुखमरी, फौजदारी के अलावा और भी कुछ है? मैं नहीं जानता। जिन गांवों के बारे में हम किताबों में पढ़ते आए हैं, वे हिंदुस्तान में कहीं नहीं हैं।'

मैं कुछ नहीं कहता। सोचता हूं, कल आदित्य से कहूंगा। उसके मामा किसी आयल मिल के प्रोपराइटर हैं। शायद कुछ हो जाए।

इधर कुछ दिनों से प्रकाशजी काफी प्रसन्न दीखते हैं। किसी प्राइवेट हाई स्कूल में काम मिलने की उन्हें पूरी उम्मीद है। सेक्रेटरी से बात हो चुकी है और उन्होंने पूरा आश्वासन दिया है कि वे उन्हें रख लेंगे।

वे आजकल रोज रात गए तक बातें करते हैं। सुभाष को इंग्लिश में ऑनर्स दिलाने को कहते हैं। कहते हैं, यदि अच्छी तरह एम.ए. कर ले तो कहीं लेक्चरर हो ही जाएगा।

अकसर हम लोग जब कभी हल्के मूड में होते हैं, तो एक-दूसरे की शादी की चर्चा करते हैं। गांव से प्रकाशजी के पिता का पत्र अक्सर आता है कि उन्होंने उनके लिए एक अच्छी-सी लड़की देख रखी है। वे ऐसे पत्रों का उत्तर नहीं देते। यों भी वे घर बहुत ही कम पत्र लिखते हैं।

उनका एपाइंटमेंट आठ-दस दिन में ही होने वाला है। सारी बातें हो चुकी हैं। वे अकसर इस विषय पर बातें करते हैं कि काम शुरू करने के बाद किस ट्यूशन को रखेंगे और किसे छोड़ देंगे। कभी-कभी वे यह भी कहते हैं कि मुझे चाहिए कि प्राण का एडमीशन थर्ड इयर में जरूर करवा दूं। और कहीं नहीं तो ग्रेजुएट हो जाने के बाद किसी हाई स्कूल में तो काम मिल ही जाएगा।

उनके चेहरे पर छा गई खुशी देखकर लगता है, जैसे रेगिस्तान में यात्रा करते हुए उन्हें कहीं पानी दिख गया हो।

नहीं, वह पानी नहीं था। वह रेत ही थी, जो पानी जैसी दिख रही थी।

उस रात उनके चेहरे की ओर देखा नहीं जा रहा था। थोड़ी देर पहले ही उन्होंने हम सबको बताया था कि स्कूल में जिस जगह उन्हें लिया जाने वाला था, वह भर गई। सेक्रेटरी जिस इलाके के हैं, उन्हें वहीं का कोई आदमी मिल गया और उन्होंने प्रकाशजी को दिए गए वचन का खयाल न रखकर उसे रख लिया।

क्या चार आदमियों का यह काफिला यूं ही भटकता रहेगा?

जीवन में कोई उद्देश्य हो तो सब-कुछ हो सकता है, किसी ने मुझसे कहा था। और मैं सोचता हूं, उद्देश्य की बात क्या ऐसी परिस्थितियों में सोची जा सकती है?

❑ ❑ ❑

गांव से मेरे पास पत्र बहुत कम आते हैं। कभी बहुत ही आवश्यक कोई बात हुई, तो पिता का पत्र आता है। लेकिन प्राण के पास अकसर पत्र आते रहते हैं। गांव में उसके एक मित्र हैं, जो उसे अकसर पत्र लिखते हैं। शादी-ब्याह से लेकर सूखा-बाढ़ तक की खबरें। गांव से आए किसी पत्र को पढ़कर खुश हुआ जा सकता है, ऐसा आज तक मैंने नहीं देखा।

समय बीतता चला जा रहा है। हम चार लोगों की नियति क्या है? किसी भी तरह का उल्लास भटककर भी हम लोगों के जीवन में नहीं आया।

'आजकल रेलवे में क्लर्की मिलनी बहुत ही आसान है।' उस रात प्रकाशजी ने आते ही कहा, 'आप प्राण के लिए कोशिश कीजिए। अभी तीन-चार दिन पहले मेरे गांव के एक लड़के का एपाइंटमेंट हुआ है। हावड़ा में एक आदमी है, उसे पांच सौ रुपये देने पड़ते हैं। बाकी सब काम—कॉपियों में नंबर बढ़वाने से लेकर, इंटरव्यू तक ठीक करने का—वह कर लेता है। कुल मिलाकर शुरू में एक सौ तीस मिलेंगे। चार महीने की तनख्वाह उसी को दे देंगे तो क्या बिगड़ जाएगा।'

लगता है आदित्य की बातें ही ठीक हैं। रेगिस्तान में भटकते लोगों के पास नैतिकता नहीं होती।

'पांच सौ रुपये देने की बात नहीं, लेकिन सोचकर देखिए, कितना बुरा लगता है, प्रकाशजी!'

'मन गवाही नहीं देता। अच्छा नहीं लगता। अब शायद कलकत्ते में इसकी जगह नहीं रह गई है। ऐसे विचारों को लोगों ने आज विचार नहीं, सस्ती भावुकता कहना शुरू कर दिया है।' प्रकाशजी के चेहरे पर कोई भाव नहीं है। लगता है, कुछ क्षण पहले मरे हुए किसी व्यक्ति का यह चेहरा है।

स्वस्थ, सुन्दर और पवित्र जीवन जीने की आकांक्षा! क्या यह एक प्रश्नचिह्न है?

मास्टरजी ने कहा था—जब प्यास असह्य हो जाती है, तो लोग ऊंटों को मारकर उनके पेट के अंदर भरी हुई थैलियों का पानी पी लेते हैं।

और आदित्य ने उस दिन मुस्कराते हुए कहा, 'तुम इस तरह क्यों बेकार भटक रहे हो? इससे अच्छा तो हमारे ही यहां काम कर लो। निश्चित आय हो जाएगी और प्राण की पढ़ाई फिर अच्छी तरह चल सकेगी। काम मैं तुम्हें तब भी देना चाहता था, जब तुमने दुकान बेची थी। लेकिन तब तुम करते नहीं, मेरा बिजनेस स्मगल गुड्स पर आधारित है। अब मैं जानता हूं, तुम कर लोगे। तीन साल तक इधर-उधर बेकार भटकने का अनुभव बहुत होता है।'

मुझे आश्चर्य होता है। आनंद को आदित्य की बातों पर कितना दृढ़ विश्वास है।

और उस दिन मुझे लगा था, जैसे सच ही मेरी मान्यताएं बहुत थक गई हैं। थकी हुई मान्यताओं को आराम चाहिए।

मान्यताएं थक भी जाती हैं, सोचकर अजीब-सा लगा था। शरीर से संबंधित सारी चीजों पर हर बात का प्रभाव शायद उसी तरह पड़ता है जिस तरह शरीर पर। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

कुंवर नारायण की कविताएं

•

मैं इतना अधिक क्यों!

अपनी परछाईं पर झुका हुआ हूं परछाईं-सा
उतना बाहर नहीं हूं
बाहर जितना अपने बाहर है
उतना खाली हूं बाहर जितना भीतर खाली है
जो कुछ भी गया है खाली करके
बाहर के बाहर कहीं नहीं है
इस तरह एक निस्सीम सीमा के बाहर
सब-कुछ का कुछ होना एक सन्नाटा है
जिसमें डूब ध्वनि
अंधकार में फैलते हुए अंधकार का फैलाव है
उसी में फैलता हुआ मैं
अपनी परछाईं पर झुकी अपनी पीठ से टिका
घुटनों में सर दिए
समझ नहीं पा रहा हूं प्रयोजन

सारा अस्तित्व मेरे ऊपर झर रहा है
मुझमें भीतर अतल में विलीन होता हुआ

मैं एक पागल शून्य से बना हुआ खामोश
कोलाहल हूं
मेरे आस-पास और हर कहीं दूर
दुनिया जहान एक झूठी कहानी का दुहराव है

एक सपना टूटकर
नींद के तलहीन मैदान की समतल चारपाई के
अंधेरे पर विक्षत जीवन-सा बिखरा है
उसी में से बीनकर इच्छाएं
अपनी फटी जेबों में ठूंसकर जाना चाहता हूं
हर दिशा में
जाने की बंद हर दिशा का दरवाजा मैं हूं
हर दस्तक मैं हूं
अकेला मैं हूं अपने सिवा
यह मैं कौन हूं जो मैं नहीं हूं
यह किसकी याद है जो इस होने के पार
मेरे होने की तरह भूली हुई काल के निर्जन गड्ढे में
पड़ी है!

अपने बारे में इतना गड़बड़ा गया हूं
कि बहुत-सारे बेमानी शब्दों का जाल बुनती हुई मकड़ी
मैं हूं एक खंडहर के कोने में
दुनिया जहान की याद करता हूं
तो बार-बार मैं सहसा सामने आ जाता हूं
अपने से टकराकर चूर-चूर हो जाता कभी
तो कभी यह सब न होता प्रलाप!

मैं किसी तरह अपने बाहर और भीतर के अलावा
अपने होने का विचार करता हूं
और भूल जाता हूं बाहर-भीतर आने-
जाने में अपना विचार
क्यों जाने मैं इतना अधिक हूं अपने लिए
कि और अधिक मरने से डरता हूं।

•

वास्तव में अवास्तविक हूं

जहां से शुरू हुआ हूं,
वहां से पहले से है मेरी शुरुआत
जहां हुआ हूं खत्म
वहां से आगे चला गया है मेरा सिलसिला

जीवन के विभ्रम की धुंधली याद है
जीवन भूला हुआ अनुक्रम
दोहराता हूं
भीतर जाता हूं बाहर
मेरी परछाईं फैलती है
धरती से आसमान तक मेरा आभास है
या सृष्टि मेरा रहस्य खोजती है

भीतर
भटक जाता हूं तो मैं
तारों में छिटक जाता हूं

मैं
अवास्तविक हूं
वास्तव में अवास्तविक हूं।

❖

शीलन

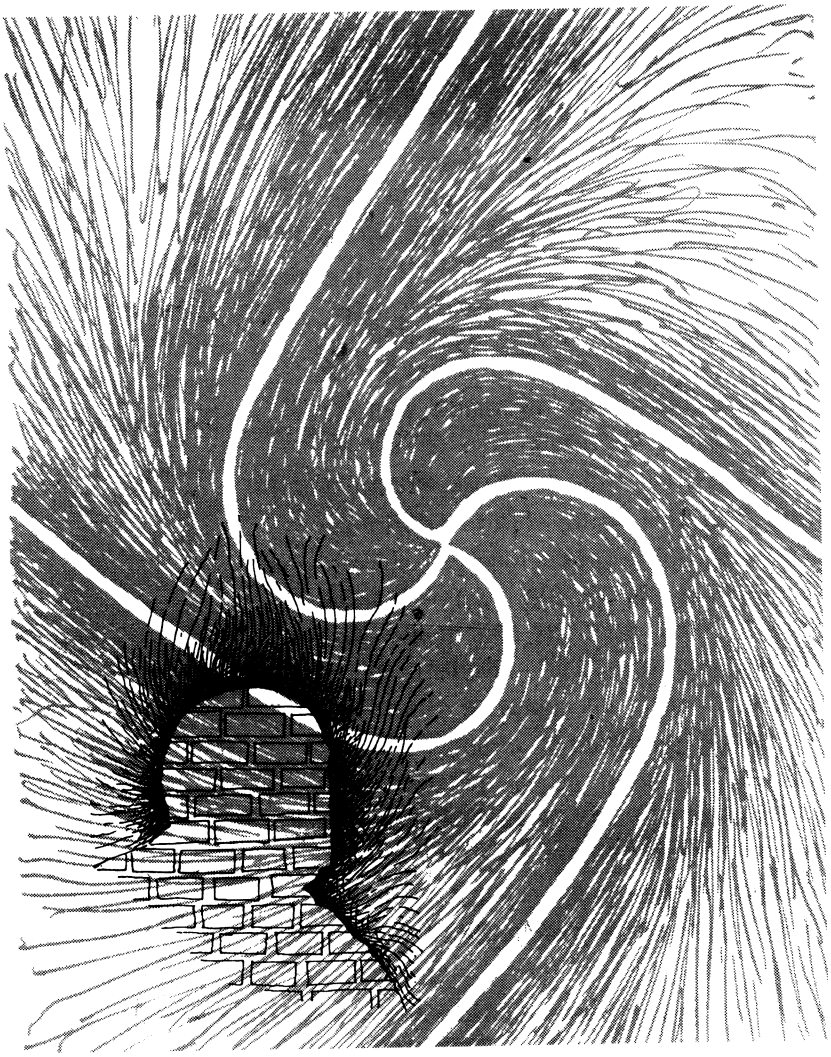

हिंसा की प्रेरणा और उसके साधन उतनी ही मात्रा में जरूरी होते हैं, जितना समाज के पास अहिंसक शक्ति-प्रेरणा का अभाव होता है। वर्गहीन समाज वह समाज होगा जो प्रेम की शक्ति से चलेगा और किसी को मानने का अवकाश न होगा कि वह शोषित या शोषक है। सब परस्पर पूरक अनुभव करेंगे और परस्पर की पूर्णता में सहायक होंगे। इस समाज को 'वर्गहीन' संज्ञा देकर यह मानना कि कोई विविधता यहां कम होगी—वर्गहीनता को न समझना है। आज का शासक या शोषक-वर्ग क्या चैन से रहता माना जा सकता है? चैन से यदि वह रह सकता है, तो तभी जब सारा समाज उसके प्रति प्रीति या विश्वास रखे और यदि यह प्रीति या विश्वास हो, तो क्या शासक अफसर जैसा रह जाएगा? वह पूरी तरह सेवक ही बना हुआ क्या न दीखने लगेगा?

—जैनेन्द्रकुमार

विभिन्न तरह की परिस्थितियों से निपटने के लिए उपयुक्त क्षमता विकसित कर लेने से व्यक्ति को असफलता कम हाथ लगती है और इससे उसका मानसिक स्वास्थ्य उन्नत हो जाता है। इसी प्रकार अपने संवेगों एवं इच्छाओं की कद्र करके उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति में मानसिक अक्षमता नहीं विकसित होती है और उसका मानसिक स्वास्थ्य धीरे-धीरे उन्नत होता जाता है। व्यक्ति को उन रचनात्मक कार्यों में, जिन्हें वह अधिक मूल्यवान समझता है—अपने-आप को व्यस्त रखना चाहिए। इससे व्यक्ति में आत्मसंतोष बढ़ेगा जो उसके मानसिक स्वास्थ्य के स्तर को धीरे-धीरे ऊंचा उठाएगा। व्यक्ति को हास-परिहास का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। परिहास की क्षमता व्यक्ति में क्रोध, चिंता, डर आदि को कम करने या नियंत्रित करने में मदद करती है।

स्वस्थ शरीर के लिए मानसिक स्वास्थ्य

❑ साध्वी ललितप्रभा 'स्वाटू' ❑

आयुर्वेद शास्त्र के जनक सुश्रुत ने कहा है कि स्वास्थ्य एक सुखद अवस्था है। आध्यात्मिक, भौतिक तथा मानसिक दृष्टि से यह एक आनंदानुभूति है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मानस का निवास होता है। शरीर और मानस एक-दूसरे के पूरक हैं। स्वस्थ विचारों के धनी मानव ही मानसिक रूप से स्वस्थ माने जाते हैं। विचारों की विचलनशीलता का अर्थ है कि मानव का व्यक्तित्व संघटित नहीं है और असंघटित व्यक्तित्व मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य, दोनों पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। गीता में भी कहा गया है कि विचारों का संतुलन बिगड़ने से मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता है और मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ने से व्यक्ति अपने कर्तव्य को भूल जाता है। जैसे कि, अर्जुन युद्ध के मैदान में लड़ने के बजाए गांडीव छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। मृत्यु की चिंता से घिरे अर्जुन का मानसिक स्वास्थ्य विघटित हो गया था। श्रीकृष्ण के उपदेश ने अर्जुन को मानसिक रूप से स्वस्थ बनाया।[1]

मन का स्वास्थ्य समता से संबंधित है। यदि मन में समता है तो मानसिक स्वास्थ्य सही होगा और यदि समता नहीं है तो मन कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। समता की साधना के जो सूत्र हैं, वे ही मानसिक स्वास्थ्य की साधना के सूत्र हैं।[2]

अपने-आप को जानें

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का पहला सूत्र है—अपने-आप को जानो। जो व्यक्ति अपने-आप को नहीं जानता, वह मन से स्वस्थ नहीं होता। मानसिक स्वास्थ्य के लिए अपने-आप को जानना बहुत जरूरी है। जो अपनी क्षमता को नहीं जानता, अपनी अक्षमता को नहीं जानता, वह व्यक्ति मन से स्वस्थ कैसे हो सकता है?

परिणामों की स्वीकृति

जिस व्यक्ति में परिणामों को स्वीकार करने का साहस नहीं होता, भय होता है—वह परिणामों को दूसरे के माथे पर मढ़ देता है और स्वयं बच निकलना चाहता है। यदि परिणाम अच्छा है तो उसका श्रेय स्वयं लेना चाहेगा और यदि बुरा परिणाम है तो उसका अश्रेय दूसरे पर उंड़ेल देगा। यह साहसहीनता है। इससे मन मलिन होता है, बीमार होता है।[3]

सत्य के प्रति समर्पण

सत्य का अर्थ है—सार्वभौम नियम। मृत्यु एक सार्वभौम नियम है, यह एक बड़ी सचाई है। जो मृत्यु की सचाई को जानते हैं वे किसी के मर जाने पर अपना संतुलन नहीं खोते।[4]

सहिष्णुता का विकास

जिसने सहिष्णुता का अभ्यास नहीं किया, उस व्यक्ति के मन को भगवान भी स्वस्थ नहीं बना सकता।[5]

यथार्थ प्रस्तुति

सामाजिक संदर्भ में अपने-आप को अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करना अपने-आप को धोखा देना है, दूसरे को धोखा देना है।[6]

समता और स्वास्थ्य

मानसिक समता आरोग्य है। अतः समता और स्वास्थ्य को पर्यायवाची मान सकते हैं। जहां समता है, वहां स्वास्थ्य है और जहां स्वास्थ्य है, वहां समता है।[7]

वीतरागता है स्वास्थ्य का सूत्र

महात्मा गांधी कहते थे—मैं कभी बीमार नहीं बनूंगा। क्योंकि मैं वीतरागता की भी साधना करता हूं और राग-द्वेष से बचने का भी प्रयत्न करता हूं।[8]

मानसिक रोगी कौन

सामान्य मानसिक जीवन में विभाजनशीलता मानसिक रोग का लक्षण है। जब आंतरिक द्वंद्व, भग्न-आशाएं तथा दुश्चिंताएं कारणों के ज्ञान के अभाव में लंबे समय तक व्यक्तित्व का भाग बन जाती हैं, तब मानसिक विघटन से विचलनशीलता को जन्म मिलता है और यही मानसिक रोगी का लक्षण है।[9]

मानसिक रोग के कारण

आयुर्वेद के महान आचार्य चरक ने लिखा—**'इष्टालाभात् अनिष्टालाभात् मानसो रोगः।'** मानसिक रोग के दो कारण हैं—इष्ट का वियोग, इष्ट का न मिलना और अनिष्ट का संयोग। आर्तध्यान मानसिक रोगों का प्रमुख कारण है। प्रिय वस्तु का वियोग हो गया और अप्रिय का संयोग हो गया।[10] मानसिक रोग का आंतरिक कारण है—काम, क्रोध, भय। ये भाव हैं। इनकी मात्रा बढ़ती है तो मानसिक रोग पैदा होता है।[11]

मनोविज्ञान के अनुसार मानसिक-रोग के कारण हैं—1. निर्धनता, 2. कुपोषण तथा दोषपूर्ण विकास, 3. दोषपूर्ण गृह वातावरण, 4. दोषपूर्ण विद्यालय का वातावरण, 5. शिक्षकों का दोषपूर्ण व्यवहार, 6. कठोर अनुशासन व दबावपूर्ण परिस्थितियां, 7. शैक्षिक तथा व्यावसायिक निर्देशों की कमी, 8. दोषपूर्ण परीक्षा तथा मूल्यांकन पद्धतियां[12] आदि।

स्वस्थ व्यक्ति की विशेषताएं

मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में अनेक विशेषताएं होती हैं। ऐसे व्यक्तियों की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार से हैं—

आत्म-मूल्यांकन—मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपने गुणों और सीमाओं का सही-सही मूल्यांकन कर सकता है। उपयुक्त समायोजन करने में सफल होता है। **आत्म-विश्वास**—मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में पर्याप्त मात्रा में आत्म-विश्वास पाया जाता है। वह जीवन की विभिन्न संघर्षमय परिस्थितियों में धैर्य नहीं खोता है। **समायोजनशीलता**—मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में, चाहे वे कितनी जटिल हों—उनका समायोजन प्रभावपूर्ण होता है। **जीवन-लक्ष्य का चुनाव**—मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के जीवन के लक्ष्य समाज के मूल्यों और आकांक्षाओं के अनुसार ही नहीं होते हैं। **संवेगात्मक स्थिरता**—मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में पर्याप्त मात्रा में संवेगात्मक स्थिरता पाई जाती है। **लैंगिक परिपक्वता**—वह अपनी लैंगिक इच्छाओं की संतुष्टि केवल समाज द्वारा मान्य तरीकों और स्रोतों से ही प्राप्त करता है। **मुख्य कार्यों में संतुष्टि**— मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपने विभिन्न लक्ष्यों से संबंधित कार्यों को करने में रुचि ही नहीं लेता है, बल्कि पर्याप्त संतोष का अनुभव भी करता है।[13] **नियमित जीवन**—मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति का जीवन पर्याप्त रूप से नियमित होता है। सुबह से शाम तक की दिनचर्या, उसका पहनावा आदि सब नियमित होता है तथा समाज और संस्कृति की परिस्थितियों के अनुसार होता है। **अतिशयता का अभाव**—वह न अधिक सम्मान पाना चाहता है, न अधिक प्रतिष्ठा। वह न अधिक कामुक होता है और न अधिक संवेगी। किसी भी चीज की अतिशयता अच्छी नहीं है। क्योंकि व्यवहार में एक-एक चीज की अतिशयता व्यवहार के अन्य क्षेत्रों में असंतुलन उत्पन्न कर देती है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सामान्य लक्षण भी हैं—अत्यधिक संवेदनशीलता, रुचियों का अभाव, भूख और नींद में कमी, अधिक जिद्द और चिड़चिड़ापन, दूसरों पर अधिक संदेह और सामाजिक संपर्क से पलायन आदि कुछ ऐसे लक्षण हैं जिनकी सहायता से सरलता से पहचाना जा सकता है कि एक व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ है अथवा नहीं।[14]

धर्म और स्वास्थ्य

आधुनिक भाषा में मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य और प्राचीन भाषा में धर्म—दोनों में कोई अंतर नहीं लगता। जितने धर्म के सूत्र हैं, वे मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य के सूत्र भी हैं। जो व्यक्ति अपने सुख के लिए दूसरों के दुख का निमित्त नहीं बनता, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है।

मानसिक स्वास्थ्य का दूसरा लक्षण है—परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता।[15] प्रायः मनोवैज्ञानिकों ने स्वस्थ मन की जो परिभाषा की है, उसमें सबसे ज्यादा महत्त्व समंजन को दिया है। समंजन करना, यानी नई परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित कर लेना, मानसिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण है।[16]

मानसिक स्वास्थ्य के कारक

मानसिक स्वास्थ्य निम्न तत्त्वों पर निर्भर करता है—1. समुचित सामाजिक समायोजन, 2. मानसिक द्वंद्वों का निवारण, 3. स्वस्थ और शक्तिशाली अभिवृत्तियां, 4. अच्छी आदतों का निर्माण, 5. दबावपूर्ण परिस्थितियों के साथ समायोजन, 6. स्वस्थ मनोरंजन के साधनों का प्रयोग, 7. संतोषप्रद भावों की अनुभूति, 8. आत्म-विश्वास के साथ कार्यों का संपादन, 9. द्वंद्व तथा निराशाओं से बचकर विवेकपूर्ण निर्णय लेना, 10. दुश्चिंताओं को त्याग कर सफलताओं की ओर अग्रसर होना।[17]

मानसिक स्वास्थ्य : छह आधार

मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व के आधार की पद्धति से व्यक्तित्व को अंकित करने और मानसिक स्वास्थ्य को जांचने के छह सूत्र दिए हैं। **वेशभूषा**—व्यक्ति कैसे कपड़े पहनता है? वह अपने प्रति कितना सजग है? वह कपड़ों को कितनी चतुराई से धारण करता है? कपड़े पहनने की विधि से मन की प्रसन्नता नापी जा सकती है। **व्यवहार**—जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है, तो उसके प्रति सामने वाला कितना ही दुर्व्यवहार क्यों न करे, वह अपना संतुलन नहीं खोएगा। वह अच्छा व्यवहार ही करेगा। **विचार**—विचार के द्वारा व्यक्ति को परखा जा सकता है। विचार के द्वारा ही व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को जाना जा सकता है। जब मन स्वस्थ होता है तब व्यक्ति की उपज भी स्वस्थ होती है। वह सही बात को सही ढंग से सोचता है। **प्रतिक्रिया**—विभिन्न परिस्थितियों में होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वारा समझा जा सकता है कि व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य कैसा है। **स्वभाव**—आशावादी व्यक्ति नीरस वातावरण में भी उत्साह भर देता है। हम यह न मानें कि जो व्यक्ति हमेशा आशा और उत्साह की बात करते हैं—वे अयथार्थ हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो दुर्भाग्य से आशा में भी निराशा ही पाते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो निराशा में भी आशा ढूंढ़ निकालते हैं। **निर्णय की शक्ति**—व्यक्ति ठीक निर्णय लेता है या नहीं लेता? निर्णायक क्षमता के आधार पर मानसिक स्वास्थ्य का पता चलता है।[18]

मानसिक स्वास्थ्य के निर्धारक

वंशानुक्रम—व्यक्ति के व्यवहार, व्यक्तित्व तथा शारीरिक-मानसिक योग्यताओं के निर्माण और विकास को प्रभावित करने वाला एक आधारभूत और अति-महत्त्वपूर्ण कारक है। एक बालक या व्यक्ति को अनेक गुण अपने पूर्वजों से प्राप्त होते हैं। ये सभी गुण उसे कितनी और किस मात्रा में प्राप्त हुए हैं। **शारीरिक स्वास्थ्य**—व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति शारीरिक रूप से भी स्वस्थ हो। शारीरिक रूप से स्वस्थ व्यक्तियों में अधिकांश व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ भी देखे गए हैं। **परिवार**—व्यक्ति के व्यवहार और व्यक्तित्व पर उसके परिवार की अमिट-छाप पड़ती है। क्योंकि जन्म के समय बच्चे न सामाजिक होते हैं और न असामाजिक। उनका मन कोरे कागज की भांति होता है। जिस पर सर्वप्रथम परिवार के अनुभवों से ही लिखा जाता है अथवा छाप पड़ती है। **संवेगात्मक स्थिति**—मानसिक स्वास्थ्य को संवेगात्मक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। **शिक्षा**—परिवार, पड़ोस, मित्र, स्कूल और कॉलेजों आदि से व्यक्ति विभिन्न प्रकार की शिक्षाएं ग्रहण करता है। एक व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य इस बात पर भी निर्भर करता है कि उसे विभिन्न व्यक्तियों और संस्थानों से किस प्रकार की शिक्षा प्राप्त हुई है। **धर्म और संस्कृति**—धर्म और संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति वे अनेक विशेषताएं सीखता है जो उसके मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होती हैं। इसी तरह किशोरावस्था, निर्धनता, बेरोजगारी, राजनीतिक अस्थिरता, मनोरंजन, साधनों का अभाव, बदलते हुए मूल्य, सामाजिक परिवर्तन आदि भी कुछ ऐसे कारक हैं, जो मानसिक स्वास्थ्य को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं।[19]

मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण

दूसरों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध, आत्म-विश्वास,

उत्साह, आशावादी दृष्टिकोण और समस्याओं के आने पर क्षुब्ध न होना—ये सब मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण हैं।[20] मानसिक स्वास्थ्य के लिए अक्षोभ, अनुद्वेग और अनुत्सुकता—इन तीन बातों पर ध्यान देना जरूरी है। अति उत्सुकता कंठमणि (Thyroid) के स्राव को प्रभावित करती है। उसका मानसिक स्वास्थ्य पर बहुत बड़ा असर होता है। किसी घटना या परिस्थिति से उत्पन्न उद्वेग मन को अशांत करता है। तालाब में ढेला फेंका, एक लहर पैदा हो गई—वैसे ही मन के प्रतिकूल कोई बात हुई, कोई कार्य हुआ, मन विचलित हो जाता है। फलतः मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है।[21]

मानसिक स्वास्थ्य की कसौटी

सहिष्णुता—बुद्धि में सहन करने की शक्ति नहीं होती। सहन करने की शक्ति हमारे मन की है। जिसका मन स्वस्थ है, वह व्यक्ति हर स्थिति को सहन कर लेता है। सुश्रुत ने लिखा है—**सत्त्ववान् सहते सर्वं, संस्त-भ्यात्मामात्मना। राजसः सहयमानोन्यैः सहते नेव तामसः।। धृति**—धीर वह है, जो कठिन स्थिति आने पर कभी डोलता नहीं, अस्थिर नहीं होता। जो अप्रिय बात सुनकर भी शांत रहता है, धैर्य नहीं खोता, वह धृतिमान है।[22] धीर की एक सुंदर परिभाषा मिलती है—विकार का हेतु होने पर भी जिसका मन विकृत नहीं होता वह धीर है—**विकार हेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एवं धीरा।** यह धृति मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण है जिसमें धृति आ गई, उसकी कठिनाइयां पार हो गई। **बुद्धि**—मानसिक-स्वास्थ्य की तीसरी कसौटी है बुद्धि का भ्रंश न होना। बुद्धि का काम निर्णय करना है, विवेक करना है, किंतु मनोबल उसका बड़ा सहयोगी बनता है। मानसिक स्वास्थ्य अच्छा है तो व्यक्ति अच्छा निर्णय लेगा, अच्छा बौद्धिक काम कर पाएगा। **स्मृति**—जब-जब विकार आता है, मानसिक अवसाद (डिप्रेशन) होता है, मानसिक रोग का लक्षण प्रकट होता है तो स्मृति का भ्रंश न होना मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण है।[23] **आवेग**—मानसिक जगत में काम वात, लोभ कफ और क्रोध पित्त हैं। जब ये कुपित होते हैं तब सन्निपात का रोग प्रकट हो जाता है। ममता दाद है। ईर्ष्या खुजली है। हर्ष और विषाद गठियावात हैं। दूसरों का सुख देखकर जलना अवरोग है। मन की कुटिलता और दुष्टता कोढ़ है। दंभ और मान नहरुआ है। तृष्णा जलोदर है। मात्सर्य और अविवेक ज्वर हैं।[24] मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में यह सब नहीं होगा।

मानसिक आवेगों का शरीर पर प्रभाव

मानसिक चिंता, निराशा, भय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि मानसिक आवेगों से हृदय रोग उत्पन्न होता है। भय, चिंता, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य आदि मानसिक आवेगों से पुरुष का वीर्य पतला हो जाता है और स्त्री को रजोविकार का रोग उत्पन्न होता है। मानसिक चिंता, अशांति, उद्विग्नता और क्षोभ के कारण क्षय रोग उत्पन्न होता है। ईर्ष्या और द्वेष यकृत एवं तिल्ली को प्रभावित करते हैं।

क्रोध और घृणा से गुर्दे विकृत होते हैं तथा रक्त विषैला बनता है। चिंता और उदासीनता से फेफड़े दुर्बल होते हैं, मस्तिष्क विकृत और रक्त दूषित होता है। विषय-वासना की प्रबलता से वीर्य-विकार और प्रमेह आदि मनोविकारों की दशा में खाए जाने वाले अन्न का समुचित परिपाक नहीं हो पाता। इनकी उत्पत्ति का कारण यह है कि मानसिक आवेग शरीर की रोग-प्रतिरोधक शक्ति को नष्ट कर डालते हैं। चिंता, शोक, भय, क्लेश, क्रोध, लोभ आदि से अरुचि और अजीर्ण रोग होता है। चिंता आदि से आमाशयिक स्राव कम होता है और क्षुधा नष्ट हो जाती है।[25]

आत्म-निरीक्षण : पहली कसौटी

धर्म का सबसे पहला सूत्र है—आत्म-निरीक्षण। आत्म-निरीक्षण करना मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण है। जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से बीमार होता है, वह पर-निरीक्षण करता है। इसी प्रकार व्रत दूसरी कसौटी है। व्रत का अर्थ है—सीमा करना। आहार का व्रत, बातचीत का व्रत, आराम का व्रत, नींद का व्रत—ये चार व्रत मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण हैं। तीसरी कसौटी है—दायित्वबोध। जिस व्यक्ति में दायित्व की चेतना जाग्रत होती है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। आत्म-निरीक्षण की चौथी कसौटी है—कर्तव्यबोध। किस समय क्या काम करना है, मेरा कर्तव्य क्या है—इसका बोध जाग्रत होना चाहिए। इस चेतना का जागना स्वस्थता के लिए आवश्यक है। पांचवीं कसौटी है—संतोष। मानसिक स्वास्थ्य का एक लक्षण है—संतोष। जो अपना मुख्य कार्य है उसमें संतोष मानना।[26]

प्रभावित करने वाले कारक

जिन व्यक्तियों का शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम होता है, उनमें सामान्यतः चिंता, संघर्ष, विरोधाभास आदि नकारात्मक तत्त्व नहीं होते हैं। शारीरिक स्वस्थता के कारण उनमें शारीरिक ऊर्जा पर्याप्त मात्रा में होती है और अपने कार्य के प्रति संतोष भी अधिक रहता है। फलस्वरूप इनका मानसिक स्वास्थ्य उत्तम रहता है। इसी तरह जिस व्यक्ति

की प्रमुख आवश्यकताओं की संतुष्टि हो जाती है तथा अधिकतर गौण आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है, तो उसका मानसिक स्वास्थ्य भी उत्तम हो जाता है।

यदि परिवार का कोई सदस्य—विशेषकर यदि माता-पिता या अन्य कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मानसिक रूप से बीमार होता है, तो व्यक्ति उनके व्यवहारों से प्रभावित होकर स्वयं भी वैसा होने लगता है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति में किसी कारण से वास्तविकता से हटकर काल्पनिक दुनिया में विचरण करने की आदत बन जाती है, तो ऐसे व्यक्तियों में घटनाओं, वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति एक तरह की अवास्तविक मनोवृत्ति विकसित हो जाती है।[27]

असामाजिक वातावरण

मनोवैज्ञानिक फेयर्स ने कुछ ऐसे सबूत प्रदान किए हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब व्यक्ति को अस्वास्थ्यकर, अनैतिक एवं असामाजिक वातावरण में लगातार रहते हुए बहुत दिनों तक अंतःक्रिया करना होता है—तो उससे उसमें दोष भाव (Guilty-feeling), आत्म-निंदा की भावना विकसित हो जाती है। धीरे-धीरे यह अवस्था मानसिक स्वास्थ्य को कमजोर बनाती चली जाती है।

मनोरंजन के साधनों का अभाव

मैकोवर ने पर्याप्त मनोरंजन एवं मानसिक स्वास्थ्य में सीधा संबंध बतलाया है। यदि किसी कारण से, किसी व्यक्ति का उसकी इच्छानुसार पर्याप्त मनोरंजन नहीं हो पाता है, तो इससे उसमें मानसिक घुटन उत्पन्न हो जाती है। जो धीरे-धीरे उसके मानसिक स्वास्थ्य को कमजोर करती जाती है।[28]

मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत बनाने के उपाय

बिटेकर, कोलमैन और मैकवेस्ट नैदानिक मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत बनाने के लिए किए गए उपायों को निम्नांकित तीन भागों में बांटा है। 1. निरोधात्मक उपाय, 2. मनोवैज्ञानिक उपाय, 3. सामाजिक-सांस्कृतिक उपाय।

निरोधात्मक उपाय—दुरुस्त शरीर में ही दुरुस्त मस्तिष्क पाया जाता है। अतः विशेष शारीरिक हालातों—जैसे मस्तिष्कीय ट्यूमर, सिफलिश एवं अन्य गंभीर आंशिक अवस्थाओं, जिनसे मानसिक अक्षमताएं उत्पन्न हो सकती हैं—का यथासंभव जल्द-से-जल्द उपचार करवाना चाहिए, ताकि व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य उनसे प्रभावित न हो सके।

मनोवैज्ञानिक उपाय—विभिन्न तरह की परिस्थितियों से निपटने के लिए उपयुक्त क्षमता विकसित कर लेने से व्यक्ति को असफलता कम हाथ लगती है और इससे उसका मानसिक स्वास्थ्य उन्नत हो जाता है। इसी प्रकार अपने संवेगों एवं इच्छाओं की कद्र करके उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति में मानसिक अक्षमता नहीं विकसित होती है और उसका मानसिक स्वास्थ्य धीरे-धीरे उन्नत होता जाता है। व्यक्ति को उन रचनात्मक कार्यों में, जिन्हें वह अधिक मूल्यवान समझता है—अपने-आप को व्यस्त रखना चाहिए। इससे व्यक्ति में आत्मसंतोष बढ़ेगा जो उसके मानसिक स्वास्थ्य के स्तर को धीरे-धीरे ऊंचा उठाएगा। व्यक्ति को हास-परिहास का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। परिहास की क्षमता व्यक्ति में क्रोध, चिंता, डर आदि को कम करने या नियंत्रित करने में मदद करती है।[29]

इसी प्रकार व्यक्ति को सामाजिक कार्यों एवं जवाब-देहियों में हाथ बंटाना चाहिए। इससे उसमें सामाजिक सहभागिता का भाव उत्पन्न होगा, जो व्यक्ति में पर्याप्त मानसिक संतोष उत्पन्न करता है। इससे भी व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

किसी भी परिस्थिति या घटनाओं की पुनर्व्याख्या की क्षमता व्यक्ति में होनी चाहिए ताकि उसमें कुंठा का स्तर न बढ़ सके और व्यक्ति में अनावश्यक तनाव उत्पन्न न हो सके। ऐसी क्षमता के रहने से व्यक्ति में मानसिक स्वास्थ्य का स्तर उत्तम बना रहता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक उपाय—विशेष सामाजिक परिस्थिति, जैसे निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर तथा विवाह-विच्छेद, माता-पिता की मृत्यु या अन्य ऐसी ही परिस्थितियों से मानसिक रोग उत्पन्न होता है। रोजेन ने बतलाया है कि धीरे-धीरे सामाजिक-आर्थिक स्तर उन्नत कर देने से एवं जीवन की अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ पर्याप्त समझौता कर लेने से व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य का स्तर उत्तरोत्तर उत्तम होता चला जाता है।[30]

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धांत

अपने और दूसरों के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान के भाव होना मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का मुख्य सिद्धांत है। साथ-ही-साथ अपनी तथा अन्य व्यक्तियों की सीमाओं को पहचानना, व्यवहार के कार्य-कारण संबंध का ज्ञान और इस तथ्य को पहचानना कि व्यवहार संपूर्ण व्यक्तित्व का परिणाम है और महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पहचान[31]—मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धांतों की श्रेणी में आते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य के अमोघ सूत्र—मन को खाली रखना, मन को विश्राम देना। सोचना अच्छा है, पर निरंतर सोचना अच्छा नहीं है। कल्पना करना अच्छा है, पर अति-कल्पना हानिकारक है, मानसिक बीमारी का लक्षण है। जिस व्यक्ति ने दीर्घ श्वासप्रेक्षा का प्रयोग किया है, वह मन को खाली रख सकता है।[32]

मन का संवरण करें, न चिंतन, न स्मृति और न कल्पना, न तर्क-वितर्क—कुछ भी नहीं। इस अवस्था का अनुभव मन के स्वास्थ्य को संजीवन देता है। इसी के साथ ललाट या ज्योतिकेंद्र पर सफेद रंग का ध्यान भी मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। महाप्राण ध्वनि हमारे मस्तिष्क के ज्ञान तंतुओं को शक्तिशाली बनाती है। यह मानसिक-स्वास्थ्य के लिए बहुत बड़ा प्रयोग है।

एक मुद्रा है—सर्वेंद्रियोपरम। इससे मानसिक शांति मिलती है। दो-चार मिनट इस मुद्रा में रहने से घंटे-भर के श्रम की थकान मिट जाती है। कितना ही मन बिखरा हो, इस मुद्रा से केंद्रित हो जाता है।[33]

समाधान का आयाम

शिक्षण, स्व-सुझाव, हंसना आदि क्रियाएं मानसिक स्वास्थ्य की बाधाओं के लिए समाधान हो सकती हैं। इसमें सबसे पहली है—शिक्षण। इसके द्वारा यह आत्म-विश्वास पैदा किया जा सकता है कि जैसा चाहें, वैसा कर सकते हैं। मानसिक स्वास्थ्य का दूसरा उपाय है—सुझाव। वर्तमान मनोविज्ञान की भाषा में उसे 'सजेशन' या 'ऑटो-सजेशन' कहा जाता है। स्वयं अनुप्रेक्षा का प्रयोग करना, 'ऑटो-सजेशन' का प्रयोग करने से मानसिक स्वास्थ्य के विकास को बहुत गति मिल सकती है।[34] हंसी में छिपा है स्वास्थ्य—जब हम खुलकर हंसते हैं तो हमारे शरीर के सभी अंगों की मसाज हो जाती है। इसी वजह से हंसने को 'इंटरनल एयरोबिक्स' और 'इनर-जॉगिंग' भी कहा जाता है। हंसने से हमारे शरीर के 'इम्युन-सिस्टम' में मजबूती आती है। हंसने मात्र से शरीर में 'एड्रोफिन-हार्मोन' क्रियाशील रहता है। हंसने से 'ब्लड-प्रेशर' कम हो जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य का एक सूत्र है—कषायों का अल्पीकरण, राग-द्वेष का अल्पीकरण। मानसिक-स्वास्थ्य का इससे बड़ा सूत्र कोई भी चिकित्सा विज्ञान दे नहीं सकता।[35]

मानसिक संतुलन के लिए महाप्राण ध्वनि 2 मिनट, कायोत्सर्ग 5 मिनट और यह अनुभव करें कि श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं—यह क्रिया 3 मिनट तक करनी चाहिए। इसी प्रकार दर्शन केंद्र पर 3 मिनट हरे रंग का ध्यान करें और दर्शन केंद्र पर ही ध्यान केंद्रित कर अनुप्रेक्षा करें कि 'आवेश अनुशासित हो रहे हैं, मानसिक संतुलन बढ़ रहा है'—इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें, फिर नौ बार मानसिक जप करें—यह क्रिया 10 मिनट करनी चाहिए।

अस्वस्थ मन शरीर को भी अस्वस्थ बनाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य बहुत जरूरी है। अस्वाभाविक आकांक्षाएं, असहिष्णुता और अवांछनीय घटना मन को असंतुलित बनाती हैं। समस्या का सामना करना और मानसिक संतुलन खोना अलग-अलग स्थितियां हैं। अतः यह संकल्प लेना चाहिए कि मैं समस्या से जूझते हुए भी अपना मानसिक संतुलन बनाए रखूंगा। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. मनोविज्ञान एवं शिक्षा में प्रयोग एवं परीक्षण : एस.एन. शर्मा, विवेक भार्गव, पृष्ठ 329
2. अध्यात्म का प्रथम सोपान सामायिक : आचार्य महाप्रज्ञ, सं. 1986, पृष्ठ 96
3. वही, पृष्ठ 97
4. वही, पृष्ठ 98
5. वही, पृष्ठ 100
6. वही, पृष्ठ 101
7. महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र : आचार्य महाप्रज्ञ सं. 2003, पृष्ठ 65
8. वही, पृष्ठ 28
9. मनोविज्ञान एवं शिक्षा में प्रयोग एवं परीक्षण : विवेक भार्गव, पृष्ठ 329
10. ध्यान क्यों? आचार्य महाप्रज्ञ, जनवरी, 2004, पृष्ठ 29
11. वही, पृष्ठ 31
12. मनोविज्ञान एवं शिक्षा में प्रयोग एवं परीक्षण (स्वास्थ्य एवं पर्यावरण), पृष्ठ 330
13. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान : प्रीति वर्मा, पृष्ठ 579, 580
14. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान : प्रीति वर्मा, श्रीवास्तव, पृष्ठ 580, संस्करण 1996
15. अहिंसा के अछूते पहलू : आचार्य महाप्रज्ञ, सं. 2003, पृष्ठ 108
16. वही, पृष्ठ 109-110
17. मनोविज्ञान एवं शिक्षा में प्रयोग+परीक्षण : डॉ. एस.एन. शर्मा, विवेक भार्गव, सं. 2003, पृष्ठ 329
18. (क) चित्त और मन : आचार्य महाप्रज्ञ (मानसिक स्वास्थ्य),

पृष्ठ 110-111 (ख) अध्यात्म का प्रथम सोपान : सामायिक : आचार्य महाप्रज्ञ, पृष्ठ 104-108
19. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान (मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान) : प्रीति वर्मा, पृष्ठ 583-584-585
20. भीतर की ओर : आचार्य महाप्रज्ञ, सं. 2003, पृष्ठ 247
21. वही, पृष्ठ 248
22. नया मानव : नया विश्व : आचार्य महाप्रज्ञ, सं. 1994, पृष्ठ 116-117
23. वही, पृष्ठ 116-119
24. चित्त और मन : आचार्य महाप्रज्ञ, पृष्ठ 98
25. चित्त और मन : आचार्य महाप्रज्ञ (मानसिक स्वास्थ्य), पृष्ठ 99
26. अहिंसा के अछूते पहलू : आचार्य महाप्रज्ञ, पृष्ठ 111-114
27. आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान : अरुणकुमार सिंह, सं. 2004, पृष्ठ 836
28. वही, पृष्ठ 837
29. वही, पृष्ठ 836-839
30. वही, पृष्ठ 839-840
31. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान : प्रीति वर्मा, पृष्ठ 587-588
32. नया मानव : नया विश्व : आचार्य महाप्रज्ञ, पृष्ठ 199
33. मैं : मेरा मन : मेरी शांति : आचार्य महाप्रज्ञ, सं. 2002, पृष्ठ 168
34. अहिंसा के अछूते पहलू : आचार्य महाप्रज्ञ, सं. 2003, पृष्ठ 115 (जैन विश्व भारती प्रकाशक)
35. आमंत्रण आरोग्य को : आचार्य महाप्रज्ञ, सं. 1997, पृष्ठ 214

❖❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा चयन

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा से संबद्ध (एफिलिएटेड) तेरापंथी सभाओं में से निर्धारित अर्हताओं के आधार पर प्रतिवर्ष बड़े क्षेत्रों से **श्रेष्ठ सभा** एवं छोटे क्षेत्रों से **विशिष्ट सभा** का चयन किया जाता है। सात्त्विक प्रसन्नता है कि श्रद्धास्पद आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य में आगामी मर्यादा महोत्सव के पावन अवसर पर दिनांक 2 फरवरी, 2006 को जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा की ओर से आयोजित विशेष समारोह में उक्त चयनित सभाओं को सम्मानित किया जाएगा।

इस अवसर पर बड़े क्षेत्रों में से चयनित **श्रेष्ठ सभा** को 'स्व. झूमरमल बच्छावत प्रेरणा पुरस्कार' के अन्तर्गत रु. 1 लाख की राशि व प्रतीक चिह्न तथा छोटे क्षेत्रों में से चयनित **विशिष्ट सभा** को 'स्व. बस्तीमल सारीबाई छाजेड़ प्रेरणा पुरस्कार' के अंतर्गत रु. 31 हजार की राशि व प्रतीक चिह्न पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में प्रदान किया जाएगा।

प्रारंभिक स्तर पर चयनित सभाओं के पदाधिकारियों से दिनांक 01 फरवरी, 2006 को मर्यादा महोत्सव स्थल धुरी (पंजाब) में आयोजित मिलन गोष्ठी में साक्षात्कार (इंटरव्यू) लिया जाएगा। 10 चयनित सभाओं में से **श्रेष्ठ सभा** एवं **विशिष्ट सभा** का चयन निर्णायक मंडल द्वारा किया जाएगा।

इस हेतु सभी सभाओं को महासभा द्वारा आवेदन पत्र प्रेषित किया गया है। सभाओं से सादर निवेदन है कि आवेदन पत्र भरकर यथाशीघ्र महासभा प्रधान कार्यालय में भेजने की व्यवस्था करावें। प्राप्त आवेदनों के आधार पर प्रारंभिक स्तर पर 5 सभाओं का चयन **श्रेष्ठ सभा** के लिए तथा 5 सभाओं का चयन **विशिष्ट सभा** के लिए चयन समिति की ओर से किया जाएगा। ज्ञातव्य है कि जिस क्षेत्र में 100 से अधिक परिवार हैं, उसे बड़े क्षेत्र की सभा तथा 100 से कम परिवार वाले क्षेत्र की सभा को छोटे क्षेत्र की सभा के रूप में वर्गीकृत किया गया है। अधिक जानकारी हेतु महासभा के निम्न पते एवं फोन नंबरों पर संपर्क कर सकते हैं—

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

फोन नंबर : (033) 22357956, 22343598 ● फैक्स नंबर : (033) 22343666, मोबाइल नं. 9831218218

गुरु ने कहा, 'वह जो सूक्ष्म तत्त्व तुम्हें दीखता नहीं, उसी सूक्ष्म तत्त्व का यह महान वट वृक्ष खड़ा है। हे सौम्य! श्रद्धा रखो—वह जो यह सूक्ष्म तत्त्व है, वही इन सबका आत्मा है। वह सत्य है। हे श्वेतकेतु! वह तुम हो।'
सारा जगत ईश्वर से भरा है, कहने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्थूल तत्त्व क्या और सूक्ष्म तत्त्व क्या? आंखों से दीखने वाला क्या और न दीखने वाला क्या? सभी तत्त्वों के भिन्न-भिन्न रूपों में चेतन तत्त्व छिपा हुआ है। इन चेतन तत्त्वों की सूची बनाई जाए तो वह अगणित, अमर्यादि होगी।

इदं सर्वम् ईशावास्यम्

❑ ज्योति पाटणकर ❑

यत्किंच जगत्यां जगत् स्थूल सृष्टि के पेट में एक सूक्ष्म जगत छिपा है। जगत के अंदर जगत—वह ईश्वर का आवास-स्थान है। जगत का एक अर्थ जीने वाला, जीवनवान होता है। जगत में संपूर्ण वस्तुएं जीवनवान हैं। जीवन कहीं सुप्त है तो कहीं प्रकट। जहां जो कुछ भी प्रकट है, वह सब जीवनवान है। 'इदं सर्वम् ईशावास्यम्' यह सारा जगत ईश्वर से ओतप्रोत है, ईश्वर का आवास है, ईश्वरमय है, ऐसी स्थिति में ईश्वर का नाम-ध्यान और चिंतन से जगत को पूरा ढक देना है। ईश-भावना से भावित होकर रहने के अलावा अन्य कुछ शेष नहीं रहता। 'यत्-किंच'—इस जगती में जग रूप से जो कुछ भी व्यक्त है। यहां जगती शब्द विभिन्न लोकों के समुदाय के रूप में कहा गया है। अनेकानेक ब्रह्मांड हैं, मनुष्य इन सभी ब्रह्मांडों को नहीं देख सकता। इन स्थूल आंखों से जितना देख सकता है, उसे दृश्य प्रपंच कहते हैं। इस प्रकार यह दृश्यमान संसार ही जगत 'शब्द' से कहा गया है।

वेदकालीन ऋषि को आत्मा की व्यापकता का दर्शन हुआ, उसकी वाणी से शब्द प्रस्फुटित हुए—ईशावास्यं इदं सर्वम्'—इन शब्दों को केंद्र में रखकर ऋषि ने, विश्व में व्याप्त सभी जीवनवान वस्तुओं के लिए समाज-रचना के सूत्र बुन डाले, अठारह श्लोकों में सारे जीवन का शास्त्र रचा गया और उसी में से निर्माण हुआ महान उपनिषद् 'ईशावास्य', जिसके प्रथम श्लोक में ही मूल मंत्र बता दिया—ईशावास्यं इदं सर्वम्, यत्किंच जगत्यां जगत्।'

उपनिषद् के इस मंत्र में मानव-धर्म का सार संचित हो गया है। हर एक में पूर्णत्व की अभिव्यक्ति की योग्यता है, ईश्वरीय सत्ता की व्यापकता की अनुभूति सबको हो, त्यागपूर्वक भोग और दूसरे की संपत्ति पर हमारी लोभ दृष्टि न हो, इन सूत्रों को इस मंत्र में अत्यंत सहजता और सरलता के साथ गूंथा गया है।

छांदोग्योपनिषद् में दृष्टांत आया है—गुरु अपने शिष्य श्वेतकेतु को सूक्ष्म जीवन तत्त्व के विषय में समझा रहे हैं—बड़े वृक्ष के मूल में अगर किसी ने प्रहार किया, तो रस स्रवेगा, किंतु वृक्ष जीवित रहेगा। किसी ने अगर मध्य में प्रहार किया तो भी वह रस स्रवेगा, किंतु वृक्ष जीवित रहेगा। अग्रभाग पर अगर किसी ने प्रहार किया तो भी रस स्रवेगा, किंतु वृक्ष जीवित रहेगा। वह यह वृक्ष जीव रूप सूक्ष्म आत्मा से व्याप्त रहता है, और रस प्राशन करते हुए आनंद में रहता है। उस वृक्ष का जीवन-तत्त्व वृक्ष की किसी एक शाखा को फेंक देता है तब वह सूख जाती है, दूसरी को फेंकता है, तब वह सूख जाती है, तीसरी शाखा को फेंक देता है, तब वह सूख जाती है। यह जीव सारे वृक्ष को छोड़ जाता है, तब सारा वृक्ष ही सूख जाता है। यह सूक्ष्म तत्त्व है, इन सबका आत्मा है, यानी उसी से यह सब बना है। वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु! वह तुम हो।

उपरोक्त दृष्टांत से शिष्य को समाधान न होने पर अन्य उदाहरण द्वारा गुरु जीवन के अस्तित्व में व्याप्त ईश-

तत्त्व को दूसरे दृष्टांत द्वारा समझाते हैं।

हे सौम्य! गुरु आरुणि ने कहा—'वटवृक्ष का फल यहां लाओ।'

'भगवन, यह लीजिए।'

'उसे फोड़ो।'

'फोड़ा, भगवन!'

'उसमें तुम क्या देखते हो?'

'अत्यंत सूक्ष्म दाने, भगवन!'

'उसमें से एक फोड़ो।'

'फोड़ा, भगवन!'

'उसमें तुम क्या देखते हो?'

'कुछ भी नहीं, भगवन!'

गुरु ने कहा, 'वह जो सूक्ष्म तत्त्व तुम्हें दीखता नहीं, उसी सूक्ष्म तत्त्व का यह महान वट वृक्ष खड़ा है। हे सौम्य! श्रद्धा रखो—वह जो यह सूक्ष्म तत्त्व है, वही इन सबका आत्मा है। वह सत्य है। हे श्वेतकेतु! वह तुम हो।'

सारा जगत ईश्वर से भरा है, कहने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्थूल तत्त्व क्या और सूक्ष्म तत्त्व क्या? आंखों से दीखने वाला क्या और न दीखने वाला क्या? सभी तत्त्वों के भिन्न-भिन्न रूपों में चेतन तत्त्व छिपा हुआ है। इन चेतन तत्त्वों की सूची बनाई जाए तो वह अगणित, अमर्याद होगी।

भगवद्गीता में भगवान अर्जुन को विभूति-वर्णन बता रहे हैं—अपनी दिव्य विभूतियों के द्वारा सारे विश्व को मैंने व्याप लिया है। मैं तुम्हें अपनी दिव्य विभूतियां बताता हूं—मैं सबके हृदय में आत्मरूप में रहता हूं, भूतमात्र के मूल, मध्य और अंत में मैं ही हूं। आदित्य में महाविष्णु, प्रकाशवान वस्तुओं में मैं सूर्य, वायु में मैं मुख्य मरीचि, नक्षत्र-तारिकाओं में चंद्र, वेदों में सामवेद मैं हूं। देवताओं में इंद्र मैं हूं, सभी भूतों की चेतना शक्ति मैं हूं, इंद्रियों में मन, रुद्रों में शंकर, मैं आठ वसुओं में अग्नि हूं। महर्षियों में भृगु हूं, सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ, स्थावर वस्तुओं में मैं हिमालय हूं, सर्व संहारकारी मृत्यु और आगे होने वाला जन्म मैं हूं। ...आदि अनेक विभूतियों के रूप में मैं जगत में व्याप्त हूं। बावजूद इसके संपूर्ण चराचर जगत में लेशमात्र भी मेरे बिना नहीं है, मेरी इन दिव्य विभूतियों का कहीं कोई अंत नहीं है। अर्जुन, तू बहुत जानने की इच्छा रख कर क्या करेगा, अपने छोटे-से अंश द्वारा सारे विश्व को व्यापकर, मैं पूरा शेष रहा हूं। फिर भी यह विभूति-विस्तार अत्यंत संक्षेप में मैंने तुझे कहा है।

अपने कानों से दिव्य विभूतियों का वर्णन सुन लेने के बाद अर्जुन के मन में इन सारी विभूतियों का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेने की इच्छा जाग्रत हुई। वह भगवान से फिर कहता है, 'आपके द्वारा बताया यह विभूति-विस्तार यद्यपि मैं सत्य मानता हूं, तथापि यह सब मैं प्रत्यक्ष आंखों से देखना चाहता हूं।' अर्जुन के विश्वरूप दर्शन की इच्छा को स्वीकारते हुए भगवान कहते हैं, 'तेरी इच्छा के अनुरूप मेरी देह में तू आज चराचर विश्व रूप देख, मेरे शत-सहस्र रूपों में विविध प्रकार, आकार, विचित्र वर्ण हैं, कभी किसी ने नहीं देखे ऐसे अनेक आश्चर्य तू आज यहां देख। परंतु यह दिव्य दर्शन सामान्य चक्षुओं द्वारा होना असंभव है। इसलिए तुझे मैं दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूं।' कहकर भगवान ने अर्जुन को दिव्य चक्षु देकर देखने की शक्ति प्रदान की। फिर भी विश्व रूप के विविध भाव, आकार, प्रकार, वर्ण, रूप आदि का दर्शन करके अर्जुन की स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गई। कांपता शरीर, भयभीत मन, गद्गद कंठ के साथ, हाथ जोड़कर, मस्तक झुका कर, अर्जुन कृष्ण से क्षमा-याचना करने लगा—'जगत में तेरे कीर्तन से अत्यंत आनंद होता है, यह उचित ही है। सर्वत्र अनुराग, प्रेम भर जाता है। अधर्म फैलाने वाले दुष्टजन, डरे हुए राक्षस कैसे भाग रहे हैं। ये सारे सिद्ध समूह तुझे वंदन कर रहे हैं। ये तुझे वंदन क्यों नहीं करेंगे, तू कर्ता का कर्ता, गुरु का गुरु है। तू सबका आधार, अक्षर है। हे अनंत! तू है भी, नहीं भी है और इन दोनों अवस्थाओं से भी परे है। तू देवताओं का आदि कारण, तू ही पुराण-पुरुष, परमात्मा, इस जगत का अंतिम सहारा तू है! तू ही स्वयं को जानने वाला, विश्व को विस्तारित करता है, तू अग्नि, तू वायु, समस्त देव, आगे-पीछे सब ओर तू ही तू है, तुझे नमस्कार हो। तेरा उत्साह और सामर्थ्य अनंत है। तू सर्व है, अन्य सब तेरे पेट में ही हैं। इसलिए मैं दंडवत प्रणाम करता हूं, मुझ बालक को क्षमा कर। तेरा अपूर्व रूप देख कर अपार तृप्ति हुई है, परंतु मन की व्याकुलता, भयग्रस्तता जाती नहीं। फिर से तेरा वही पूर्व सौम्य रूप मुझे देखने दे। तू प्रसन्न हो। हे जगदीश्वर! तू गदा, चक्र धारण कर। किरीट पहन ले। मैं तुझे पूर्ववत् देखना चाहता हूं। अनंत भुजाओं को पेट में समेट कर हे विश्वमूर्ते, चार भुजाओं से युक्त हो।' इस तरह भगवान कृष्ण की विशेष कृपा प्राप्त कर अर्जुन ने ईश-तत्त्व को सारे

चराचर विश्व में, भिन्न-भिन्न विभूतियों के रूप में सुना, दिव्य चक्षु प्राप्त कर विश्व रूप आंखों से देखा। उपनिषद् के गुरु-शिष्य संवाद द्वारा शिष्य ने जगत में व्याप्त उस सूक्ष्म तत्त्व को समझ लेने की चेष्टा की। इस तरह इस चराचर जगत में व्याप्त यहां जो-कुछ जीवन है, वह सारा ईश का आवास है, इसी तत्त्व को विस्तार में समझने का यह प्रयत्न है। ऐसा होते सभी ईश-तत्त्व को समझ कर अनुभव कर लेने की व्यावहारिक कौशल, कला, हमें सधी है क्या? इसके व्यावहारिक पहलू क्या होंगे? कैसे होंगे? यह प्रश्न हम सभी के सामने खड़ा रहता है। जीवन के इस दूसरे व्यावहारिक पहलू को अध्यात्म की भूमिका पर समझ लेने के लिए इसी मंत्र के उत्तरार्ध की ओर ध्यान खींचा गया है—

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, मां गृधः कस्यस्विद् धनम्

उसके नाम पर त्याग करके भोग करो। जो ईश्वरीय सत्ता सबमें व्याप्त है, सबको समान पोषण देने वाली है, सबको समान भाव से देखती है। इसमें सबके लिए संपूर्ण वैभव, समान नीति, परिपूर्ण ज्ञान, आश्वासन और संरक्षण उपलब्ध हैं। कम और अधिक के द्वंद्वों से परे, अपनी आवश्यकतानुसार सभी अपना पोषण प्राप्त करके, यह बुद्धि और शक्ति ईश्वर ने सभी को दी है। अतः समाज की नीति ऐसी हो कि प्रकृति की व्यवस्था के अनुरूप सब सहजता से पोषण प्राप्त कर सकें और कोई भी सत्ता और स्वावलंबन, दोनों से वंचित न रह पाएं। त्याग करके भोगने की बुनियाद पर खड़ी संस्कृति में प्रत्येक प्राणीमात्र को उसके विकास का पूर्ण अवसर मिल सके। हमारी सामाजिक व्यवस्था और नीति इस विचार के अनुरूप होगी तो हर एक व्यक्ति की शक्ति का पूर्ण उपयोग हो सकेगा। मानव मात्र को इस ईश्वरीय कसौटी में संपूर्ण सहयोगी भावना से पूर्ति करनी होगी। इसलिए मंत्र के उत्तरार्ध में कहा है—'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः!' यह त्याग और भोग का समन्वय सूत्र है। प्रथम समाज को अर्पण करके उसमें से आवश्यकतानुसार भोग करना, यह युक्ति त्याग और भोग के भेद को मिटा देती है और भेदातीत समतामूलक समाज बनाने की दिशा में अग्रसर होती है।

मंत्र के अंतिम भाग में सामाजिक नीति की ओर संकेत किया गया है—'मां गृधः कस्यस्विद् धनम्।' दूसरे के धन पर गिद्धदृष्टि मत रखो। समाज के किसी भी वर्ग के व्यक्ति का शोषण हमारे कार्य और व्यवहार द्वारा न हो। धनवान करोड़पति से आरंभ करके मजदूरी और श्रम करके अति अल्प कमाई करने वाले मजदूर का भी शोषण हमारे जीवन में प्रवेश न करे। जीवन में लोभ-वृत्ति का प्रवेश न हो जाए, अपने श्रम से कमाए हुए पर जो मर्यादित और जीवन-निर्वाह के लिए उपयोगी हो उतने से ही संतुष्टि मानने में मनुष्य की भलाई है। हर व्यक्ति अपने श्रम का आधार रखकर, श्रम से उत्पन्न किया हुआ भोग करेगा, तभी समाज में शांति और समृद्धि का निर्माण हो सकेगा। इसलिए मंत्र के उत्तरार्ध में कहा है—'मां गृधः कस्यस्विद् धनम्।' भला यह धन किसका है? इसका कौन स्वामी है? इस जगत में जहां, जो-कुछ है, वह ईश्वर का आवास है।

इस मंत्र के मूल में साम्ययोग का विचार विद्यमान है। अद्वैत की स्थापना और द्वैत का समतामूलक दर्शन, दोनों का समन्वय इस मंत्र की नीति और विशेषता है, जिसका ध्रुवपद 'ईशावास्यं इदं सर्वम्' और 'त्यक्तेन भुंजीथाः' है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति और प्राणीमात्र को उसके विकास का अवसर मिल सके, अपने में छिपी ईश्वरीय शक्ति को वह प्रकट कर सके, उसके सहयोग से ईश्वर तत्त्व की अनुभूति को व्यापक बनाकर 'ईशावास्यं इदं सर्वम्' के उपनिषद् मंत्र को मनुष्य मात्र सार्थक कर सके, ऐसे हमारे प्रयत्न होने चाहिए।

हम मिलकर ईशावास्यं के आलोक—प्रकाश में अपने को प्रकाशित करने की सामूहिक प्रार्थना करें। सामूहिक संकल्प करें। ❖

सुख और दुख में गुणात्मक अंतर भी होता है और मात्रात्मक भी। कुछ सुख बेहतर होते हैं, श्रेष्ठ होते हैं, शारीरिक सुख से ऊपर होते हैं। अच्छे व्यक्ति उन्हीं की तलाश करते हैं, पर सब व्यक्ति करते सुख की ही तलाश हैं। यह बात और है कि कुछ व्यक्तियों का सुख श्रेष्ठ होता है, कुछ का सामान्य। कुछ व्यक्तियों का सुख शारीरिक होता है और कुछ का शरीर से इतर, परंतु होते सब सुखवादी हैं।

—जॉन स्टूअर्ट मिल

चिड़िया तो कहकर फुर्र... से उड़ गई। चुहिया ज्यों ही तालाब के पास आकर मुंह डालती है कि पीछे हट जाती है। काफी देर से जब चुहिया तालाब को पार नहीं कर सकी, तब चिड़िया ने वापिस आकर पहले की ही तरह अपनी चोंच में उसकी पूंछ पकड़ी और उड़ाकर तालाब पार करा दिया और बातें करते हुए दोनों चलने लगीं। चिड़िया से भी रहा नहीं गया। उसने पुनः कहा—'देख चुहिया! अगर मैं तुझे पानी के तालाब से बाहर नहीं निकालती तो तू इस बार अवश्य ही मर जाती।' चुहिया ने फिर वही पहले वाला उत्तर दिया। कहा—'ऊं... हूं... मैं तो नहीं मरती। तूने तो मुझे बीच में ही बाहर निकाल दिया। मैं तो तालाब में गंगा-स्नान करने के लिए जा रही थी। क्योंकि, कल ही मेरी दादी मरी है और आज सहज मौका मिल गया गंगा-स्नान करने का। मगर, तुम ऐसी सखी निकली कि जो बीच में ही बाहर निकाल ले आई। मैं तो गंगा-स्नान करने से रह गई।'

बालकथा

चिड़िया और चुहिया की दोस्ती

❑ साध्वी कल्पमाला ❑

एक बार की घटना है। चीं-चीं करती हुई एक चिड़िया अपने दोस्त की खोज में इधर-उधर घूम रही थी। तभी उसने देखा कि एक चुहिया बिल में घुस रही है, तो कभी बाहर निकल रही है। ज्यों ही इस बार वह बाहर निकली तो चिड़िया ने कहा—'क्या तुम मेरे से दोस्ती करोगी?' चुहिया ने तुरंत हां भरली और अब चिड़िया व चुहिया में दोस्ती हो गई। एक दिन चिड़िया ने चुहिया से कहा—'आज घूमने का मन हो रहा है, चलो हम 'पिकनिक' मनाने चलें। चिड़िया व चुहिया दोनों घूमने के लिए तैयार हो गए। दोनों पैदल ही चल पड़े! चलते-चलते चिड़िया ने चुहिया से कहा—'देखो मित्र! सड़क का रास्ता बहुत लंबा है, हम पगडंडी मार्ग से, छोटे रास्ते से जल्दी बागीचे में पहुंच जाएंगे, इसलिए यह सामने जो मार्ग दिख रहा है—उस रास्ते से चलें। चुहिया ने हां भर ली।

थोड़ी ही दूर चले थे कि अनजान मार्ग में चिड़िया व चुहिया दोनों ही फंस गए। उस मार्ग में घुसते ही संकड़ी गली आ गई। गांव वालों ने रास्ते के बीच में गोबर का ढेर अलग से लगा रखा था। आस-पास से निकलने का दूसरा मार्ग नहीं था। तब चिड़िया ने चुहिया से कहा—'देखो, अब और कोई उपाय नहीं है, एक ही उपाय है कि हम दोनों एक छलांग लगाएं। देखें कि किसमें ज्यादा ताकत है? कौन कितना शक्तिशाली है? देखें कि इस छलांग प्रतियोगिता में कौन प्रथम स्थान प्राप्त करता है।' चुहिया ने कहा—'हां-हां, यह प्रतियोगिता तो बहुत सरल है। अभी एक छलांग लगाऊंगी कि सारे गोबर के ढेर को पार कर लूंगी।'

चिड़िया तो शर्त लगाकर फुर्र-फुर्र उड़ गई और चुहिया ज्यों ही गोबर के ढेर को पार करने लगी कि बीच में ही फंस गई। बीच में गीला-गीला गोबर था। गांव वालों ने बीच में खड्डा खोदकर पानी भी डाल रखा था। उसमें फंस जाने से चुहिया निकल नहीं पा रही थी। पूरे गोबर का दही की भांति मंथन कर डाला, हाथ-पैर सारे गोबर से लथपथ हो गए, पसीना-पसीना आ गया, लेकिन उस गोबर से वह निकल नहीं पा रही थी।

इधर चिड़िया ने सोचा—अभी तक चुहिया नहीं

आई। क्या बात है, देखूं तो सही! वह लौट कर फिर उसी जगह आई। जब उसकी हालत को चिड़िया ने देखा तो उसको दया आ गई। उसने उसकी पूंछ को चोंच में पकड़ा और गोबर के ढेर से बाहर निकाला। वे फिर धीरे-धीरे पैदल चलने लगे। ज्योंही वापस पैदल चलने लगे तभी चिड़िया ने चुहिया से कहा—'देख चुहिया! अगर मैं तुझे गोबर से बाहर नहीं निकालती तो आज तू अवश्य मर जाती।' चुहिया ने कहा—'ऊं...हूं.. मैं तो नहीं मरती। तूने तो मुझे बिना मतलब बाहर निकाल दिया। तुम्हें पता नहीं, मेरी बहिन की शादी है और मैं तो अंदर बैठी पैर-हाथ रचा रही थी। मेहंदी मंडवा रही थी। तूने बीच में ही आकर मेरी पूंछ पकड़ मुझे बाहर निकाल दिया।

चिड़िया ने सोचा—देखो! मैंने तो इसे दोस्ती के नाते मरते-मरते बचाया। यह उल्टा मुझे ही दोषी बता रही है। कोई बात नहीं, दोस्ती की है तो साथ तो निभाना ही है।

फिर बातें करते-करते दोनों आगे बढ़े जा रहे थे। इतने में ही कांटों की एक बाड़ लगाई हुई जगह आ गई। चारों ओर कांटों की बाड़, कहीं से भी रास्ता नहीं। वापस लौटें तो लंबा सफर, अब क्या करें? चिड़िया ने पुनः चुहिया से कहा—'देखो चिड़िया! सामने कांटों की बाड़ है और इसे लांघकर हमें आगे 'पिकनिक' मनाने जाना है। जल्दी से इसे पार करना जरूरी है, नहीं तो हमें बड़ी देर हो जाएगी।' चुहिया ने कहा—'हां-हां! अभी एक ही छलांग में कांटों की इस बाड़ को लांघ जाऊंगी।' चिड़िया तो कहकर फुर्र... उड़ गई। चुहिया ने ज्यों ही छलांग लगाई कि कांटों में फंस गई। इस बार वह घबरा गई कि अगर कांटों में फंसती जाऊंगी तो कैसे निकलूंगी!

इधर चिड़िया को फिर फिक्र होने लगी। चुहिया अभी तक नहीं आई। 'पिकनिक' में देर हो जाएगी। उसने सोचा—जाकर देखूं तो सही कि चुहिया कर क्या रही है? वह बाड़ के निकट आ खड़ी हो गई। कुछ देर तक चुहिया की हरकतें देखती रही। फिर सोचा—मित्रता के नाते सहायता करना मेरा परम कर्तव्य है। चुहिया ने एक बार फिर ज्यों ही कांटों की बाड़ से निकलने के लिए छलांग लगाई, वह कांटों के बीचों-बीच बुरी तरह फंस गई। चारों तरफ से शरीर में कांटे ही कांटे चुभ गए। शरीर लहूलुहान हो गया। बहुत कोशिश करने के बाद भी वह निकल नहीं पाई, तो चिड़िया ने सोचा—अब मौका है इसे निकालने का। चिड़िया ने तुरंत चुहिया की लटक रही पूंछ को पकड़ा और खींच कर कांटों से बाहर निकाला। अपनी चोंच से उसके शरीर में चुभे हुए एक-एक कांटे को भी निकाला। चुहिया के शरीर को सहलाया।

वे फिर पुनः पैदल चलने लगे और बातें करने लगे। चिड़िया ने कहा—'चुहिया! अगर मैं तुझे कांटों की बाड़ से बाहर नहीं निकालती तो तू इस बार तो अवश्य ही मर जाती। तेरा पूरा शरीर लहूलुहान हो गया। पसीना-पसीना आ गया और आधे से ज्यादा खून तो बह ही गया। अगर मैं इस बार थोड़ी-सी भी देर कर देती तो तू मर ही जाती।' चुहिया ने फिर वही उत्तर दिया—'ऊं... हूं... मैं तो नहीं मरती। तूने तो मुझे बीच में ही निकाल दिया। मैं तो बाड़ के अंदर जानबूझ कर गई। क्योंकि, मेरे भैया की शादी है, मुझे तो कान-नाक छिदवाने (बिंधाने) थे। तूने तो बीच में ही रंग में भंग कर दिया।'

चिड़िया ने सोचा—देखो! कैसी स्वार्थी दुनिया है। मैंने इसे मरते-मरते बचाया। शरीर के एक-एक चुभे हुए कांटे निकाले, लेकिन इसने वचन का ऐसा कांटा मुझे चुभाया है कि मैं जिसे भूल भी नहीं सकती। खैर! कोई बात नहीं। मैं तो बात को आई-गई कर लूंगी, लेकिन इसको भी सबक सिखाना जरूरी है। आगे चले कि मार्ग में तालाब आ गया। पानी से लबालब भरा हुआ था। चिड़िया ने कहा—'देख चुहिया रानी! सामने तालाब दिख रहा है। इसे पार कर, हमें 'पिकनिक' मनाने 'गार्डन' में पहुंचना है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। तुम सावधानी से इसे पार करना।' चुहिया ने कहा—'हां-हां, अभी एक छलांग लगाऊंगी, पार कर लूंगी।'

चिड़िया तो कहकर फुर्र... से उड़ गई। चुहिया ज्यों ही तालाब के पास आकर मुंह डालती है कि पीछे

हट जाती है। काफी देर से जब चुहिया तालाब को पार नहीं कर सकी, तब चिड़िया ने वापिस आकर पहले की ही तरह अपनी चोंच में उसकी पूंछ पकड़ी और उड़ाकर तालाब पार करा दिया और बातें करते हुए दोनों चलने लगीं। चिड़िया से भी रहा नहीं गया। उसने पुनः कहा—'देख चुहिया! अगर मैं तुझे पानी के तालाब से बाहर नहीं निकालती तो तू इस बार अवश्य ही मर जाती।' चुहिया ने फिर वही पहले वाला उत्तर दिया। कहा—'ऊं... हूं... मैं तो नहीं मरती। तूने तो मुझे बीच में ही बाहर निकाल दिया। मैं तो तालाब में गंगा-स्नान करने के लिए जा रही थी। क्योंकि, कल ही मेरी दादी मरी है और आज सहज मौका मिल गया गंगा-स्नान करने का। मगर, तुम ऐसी सखी निकली कि जो बीच में ही बाहर निकाल ले आई। मैं तो गंगा-स्नान करने से रह गई।'

चिड़िया ने सोचा—देखो मैंने तो मरते-मरते बचाया। यह कहती है मैं गंगा-स्नान करने जा रही थी। वाह रे स्वार्थ की दुनिया! खैर, कोई बात नहीं! आगे चले। चलते-चलते 'गार्डन' सामने दिखाई देने लगा, मगर बीच में 'ट्रेन' के चीले बने हुए थे। चिड़िया ने कहा—'देखो चुहिया, ट्रेन आने में सिर्फ दो मिनिट की देरी है। सामने 'गार्डन' है, इसे तुरंत पार करें और फिर आराम से बैठकर बातें करेंगे। अब देरी मत करो, ट्रेन की लाइन को शीघ्र पार करो। चिड़िया तो कहकर फुर्र... उड़ गई। चुहिया ज्यों ही पार करने लगी कि तार में पूंछ अटक गई। चिड़िया ने सोचा, ट्रेन का 'हॉर्न' बज चुका है और चुहिया की पूंछ को तुरंत निकालना चाहिए। अगर एक सेकंड भी देरी करूंगी तो बिना मौत यह जाएगी। चिड़िया ने तुरंत साथी का साथ निभाते हुए मरते-मरते, चुहिया को बचा लिया।

अब गार्डन आ गया। दोनों बैठे और सुस्ताने लगे। तभी चिड़िया ने फिर वही बात कही—'देख चुहिया, अगर मैं तुझे 'ट्रेन' की लाइन पार नहीं कराती तो तू अवश्य ही मर जाती।' चुहिया ने भी फिर उसी तरह कहा—'ऊं... हूं..., मैं तो नहीं मरती। मैं तो चलती-चलती थक गई थी। मेरे सारे हाथ-पैर दर्द करने लगे। ट्रेन के नीचे इन्हें दबाने जा रही थी और तूने मुझे बीच में ही निकाल दिया, दबवाने ही नहीं दिया।' चिड़िया ने सोचा—देखो! मैंने तो मरते-मरते बचाया। नहीं निकालती तभी पता चलता, पूरी ही दब-कुचल जाती। चिड़िया ने सोचा—मैंने इसका इतनी बार उपकार किया, लेकिन यह उपकारी का उपकार मानती ही नहीं। ऐसी दोस्ती क्या काम की, नहीं चाहिए मुझे ऐसी दोस्ती।

चिड़िया ने कितनी ही बार चुहिया को बचाया। सबसे पहले गोबर से बचाया, तब चुहिया ने कहा—मैं तो मेरी बहिन की शादी में मेहंदी रचवाने गई। तूने बीच में ही निकाल दिया। दूसरी बार कांटों से बचाया तो कहा—भैया की शादी थी। कान-नाक छिदवाने गई, मुझे बीच में ही निकाल दिया। तीसरी बार तालाब से बचाया तो कहा—मेरी दादी कल ही मरी है। मैं तो गंगा-स्नान करने जा रही थी, तूने बीच में ही...। चौथी बार 'ट्रेन' की लाइन से बचाया, तो भी कहा—मैं तो चलती-चलती थक गई। 'ट्रेन' के नीचे कमर दबवाने जा रही थी, तूने बीच में ही निकाल दिया। तभी तो चिड़िया ने सोचा कि ऐसी दोस्ती नहीं करनी चाहिए।

प्यारे बच्चो! हम भी अपना साथी बनाते समय पहले सोचें। हमारा साथी बीच में ही कहीं धोखा देकर भाग न जाए। इसलिए साथी उसे ही बनाना चाहिए जो जिंदगी-भर साथ निभाए! सुख-दुख में काम आए। विपत्ति में सहायता करे। हमें चुहिया की तरह नहीं बनना है। उसमें अवगुण थे फिर भी वह स्वीकार नहीं करती थी। कहा भी है—

बाड़ रों कांटो कदैई, बाड़ रै चुभै कोनी।
आपरा अवगुण कदैई, आपनै दिखै कोनी।।

चिड़िया ने बार-बार चुहिया को मरते हुए बचाया, लेकिन चुहिया हरदम कहती रही—ऊं... हूं... मैं तो नहीं मरती, मैं तो अमुक कार्य करने जा रही थी। हरबार कोई-न-कोई बहाना बनाती रही, लेकिन अपनी कमजोरी नहीं देख पाई। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

संबोधन अलंकरण समारोह

श्रद्धेय आचार्यप्रवर जिन श्रावक-श्राविकाओं को उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं के आधार पर विशेष संबोधनों से संबोधित करते हैं, उनको जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव के अवसर पर पूज्यप्रवरों की पावन सन्निधि में आयोजित विशेष कार्यक्रम में अलंकरण प्रदान कर सम्मानित करती है। संबोधन अलंकरण समारोह आगामी धुरी मर्यादा महोत्सव के अवसर पर दिनांक 2 फरवरी, 2006 को पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में आयोजित है। पिछले दो वर्षों से उक्त अवसर पर महासभा द्वारा अलंकरण प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की सचित्र परिचय पुस्तिका भी प्रकाशित की जाती है। अतः जनवरी, 2005 से दिसंबर, 2005 तक संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं अथवा उनके पारिवारिकजनों से सादर निवेदन है कि अब तक जिन्होंने परिचय एवं फोटो प्रेषित नहीं किया है, वे संबोधन प्राप्तकर्ता का परिचय दो फोटो सहित यथाशीघ्र महासभा प्रधान कार्यालय, कोलकाता के पते पर प्रेषित करने की व्यवस्था करें।

इस अवसर पर एक मिलन गोष्ठी का आयोजन दिनांक 1 फरवरी को सायंकाल किया जा रहा है। सभी संबोधन प्राप्तकर्ता महानुभावों एवं परिवारजनों से उक्त आयोजन में सहभागिता हेतु सादर निवेदन।

सुरेन्द्र चोरड़िया	**भंवरलाल सिंघी**	**तरुण सेठिया**
अध्यक्ष	संयोजक	महामंत्री

अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार संबोधन प्राप्तकर्ता सूची निम्नांकित है।

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
1.	स्व. गोविंदरामजी सेखानी	अहमदाबाद	शासनसेवी
2.	श्री बुधमल दुगड़	कोलकाता	शासनसेवी
3.	श्री मिन्नालाल बरड़िया	कोलकाता	शासनसेवी
4.	श्री शार्दूलसिंह जैन	कोलकाता	शासनसेवी
5.	स्व. गजानंदजी दुधोड़िया	छापर	शासनसेवी
6.	श्री पन्नालाल बैद	जयपुर	शासनसेवी
7.	श्री रतनलाल बैद	जयपुर	शासनसेवी
8.	स्व. मनोहरजी कोठारी	नाथद्वारा	शासनसेवी
9.	श्री पुखराज तलेसरा	बालोतरा	शासनसेवी
10.	श्री प्रेमसुख बोथरा	बीकानेर	शासनसेवी
11.	श्री हनुमानमल नाहटा	बीदासर	शासनसेवी
12.	स्व. माणकचंदजी बैंगानी	बीदासर	शासनसेवी
13.	श्री मांगीलाल छाजेड़	बैंगलोर	शासनसेवी
14.	श्री ललित आच्छा	बैंगलोर	शासनसेवी
15.	श्री रूपचंद दूगड़	मुंबई	शासनसेवी
16.	श्री पदमचंद पटावरी	राजसमंद	शासनसेवी

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
17.	श्री बच्छराज नाहटा	लाडनूं	शासनसेवी
18.	श्री बनेचंद मालू	श्रीडूंगरगढ़	शासनसेवी
19.	श्री लक्ष्मीचंद दूगड़	जयपुर	शासनसेवी
20.	श्री सुजानमल दूगड़	सरदारशहर	शासनसेवी
21.	श्री चंपकभाई के. मेहता	सूरत	शासनसेवी
22.	स्व. शोभालालजी राठौड़	सूरत	शासनसेवी
23.	स्व. गजानन्दजी सरावगी	कोलकाता	शासनसेवी
24.	स्व. अंबालालजी श्रीश्रीमाल	अजमेर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
25.	स्व. बजरंगलालजी बोहरा	अहमदाबाद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
26.	स्व. भोमराजजी जामड़	किशनगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
27.	स्व. सोहनलालजी बोहरा	केलवा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
28.	श्री विजयसिंह चोरड़िया	कोलकाता	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
29.	स्व. ख्यालीरामजी सिंघी	गंगटोक	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
30.	श्री रतनलाल मालू	गंगाशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
31.	स्व. नेमीचंदजी डाकलिया	गंगाशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
32.	स्व. नाहरमलजी बाणगोता	गादाणा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
33.	श्री प्रेमचंद सिंगला	चंडीगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
34.	स्व. भंवरलालजी बच्छावत	चाड़वास	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
35.	श्री पुखराज परमार	चेन्नई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
36.	स्व. लालचंदजी दुधोड़िया	छापर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
37.	स्व. जंवरीमलजी बोथरा	जयपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
38.	श्री श्रीचंद कोठारी	टमकोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
39.	श्री हेमराज जैन	टिटिलागढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
40.	स्व. रामचंद्रजी जैन	तुसरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
41.	श्री मदनलाल जैन	तोषाम	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
42.	स्व. कन्हैयालालजी सोनी	थामला	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
43.	श्री शांतिकुमार जैन	दिल्ली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
44.	स्व. मोतीलालजी धोका	नीमली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
45.	श्री अमरचंद गादिया	पाली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
46.	स्व. चंपालालजी बैदमूथा	बाड़मेर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
47.	श्री गणेशमल छाजेड़	बायतू	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
48.	स्व. डूंगरमलजी कोठारी	बालोतरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
49.	स्व. धनराजजी चोपड़ा	बालोतरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
50.	स्व. पन्नालालजी बैंगानी	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
51.	स्व. पूरणमलजी बैंगानी	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
52.	श्री एच. पारसमल गादिया	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
53.	श्री सिरेमल डोसी	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
54.	स्व. चांदमलजी सेठिया	बैंगलोर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
55.	श्री अनराज दुगड़	ब्यावर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
56.	स्व. ज्ञानीरामजी सेठिया	भीनासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
57.	स्व. मोहनलालजी चंडालिया	भीलवाड़ा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
58.	स्व. ईश्वरचंदजी बोथरा	मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
59.	स्व. रूपचंदजी कोचर	राजगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
60.	श्री पारसमल सेठिया	रामसिंह का गुड़ा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
61.	श्री चुन्नीलाल खटेड़	लाडनूं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
62.	स्व. कन्हैयालालजी बैद	लाडनूं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
63.	स्व. नथमलजी बैद	लाडनूं	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
64.	स्व. हरीभाई मोदी	वाव	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
65.	स्व. कुंदनमलजी झाबक	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
66.	स्व. तोलारामजी डागा	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
67.	श्री वेदप्रकाश जैन	संगरूर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
68.	श्री हीरालाल जीरावाला	समदड़ी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
69.	श्री डालचंद चिंडालिया	सरदारशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
70.	स्व. चंपालालजी डागा	सरदारशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
71.	स्व. ज्ञानचंदजी आंचलिया	सरदारशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
72.	स्व. पूनमचंदजी कोचर	सादुलपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
73.	श्री इंद्रमल भंडारी	दिल्ली	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
74.	श्री भीमसेन जैन	फरीदाबाद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
75.	श्री हुकुमचंद नाहटा	भादरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
76.	श्री फतेहलाल मेहता	मजेरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
77.	श्री मोहनलाल सेठिया	मोमासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
78.	श्री भंवरलाल पुगलिया	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
79.	स्व. जसकरणजी चिंडालिया	सरदारशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
80.	श्री हस्तीमल सेठिया	देवगढ़ मदारिया	शिविरसेवी
81.	स्व. भंवरलालजी सालेचा	जसौल	शिविरसेवी/श्रद्धानिष्ठ श्रावक
82.	स्व. सुमेरमलजी सेठिया	बीदासर	संघनिष्ठ
83.	श्री गणपतलाल बोथरा	बोरावड़	सेवानिष्ठ
84.	श्री अमरसिंह पारख	जयपुर	कल्याण मित्र
85.	श्री ओमप्रकाश जैन	जयपुर	कल्याण मित्र
86.	श्री रणजीतसिंह बैद	जयपुर	कल्याण मित्र
87.	श्री राजकुमार बरड़िया	जयपुर	कल्याण मित्र

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
88.	स्व. बाबूलालजी सिसोदिया	सूरत	तपस्वी श्रावक
89.	स्व. सायरदेवी कोठारी	अहमदाबाद	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
90.	स्व. मुन्नादेवी बोहरा	आमेट	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
91.	स्व. लाजवंतीदेवी जैन	उकलाना	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
92.	स्व. सोनादेवी जैन	उचाना	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
93.	स्व. प्रतापबाई पोरवाल	उदयपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
94.	स्व. सुंदरदेवी चिंडालिया	उधना	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
95.	श्रीमती तारादेवी सुराणा	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
96.	श्रीमती राधादेवी दूगड़	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
97.	श्रीमती रायकंवरीदेवी बोथरा	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
98.	स्व. बरजीदेवी सुराणा	कोलकाता	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
99.	स्व. धापूदेवी बोल्या	गंगापुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
100.	श्रीमती अन्नीदेवी भंसाली	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
101.	श्रीमती छोटादेवी सिंगी	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
102.	स्व. धुड़ीदेवी भूरा	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
103.	स्व. भंवरीदेवी मालू	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
104.	स्व. सुंदरदेवी चोपड़ा	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
105.	श्रीमती मनोहरीदेवी दूगड़	चाड़वास	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
106.	श्रीमती त्रिशलादेवी जैन	चीका मंडी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
107.	स्व. भंवरीदेवी सुराणा	चूरू	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
108.	स्व. सुवटीदेवी बैद	छापर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
109.	श्रीमती कमलादेवी बरड़िया	जयपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
110.	श्रीमती भंवरीदेवी सुराणा	जयपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
111.	स्व. मोरादेवी भंसाली	जयपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
112.	स्व. अणचीदेवी लूंकड़	जसोल	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
113.	श्रीमती गुलाबीदेवी जैन	टिटिलागढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
114.	श्रीमती फूलीदेवी जैन	टिटिलागढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
115.	श्रीमती भंवरीदेवी बैद	बीकानेर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
116.	श्रीमती सीरूदेवी बोथरा	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
117.	श्रीमती प्यारीदेवी गादिया	बैंगलोर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
118.	स्व. भागीदेवी नाहटा	भादरा	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
119.	स्व. सुशीला जैन	भिवानी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
120.	स्व. साईबाई मेहता	मजेरा	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
121.	श्रीमती जया बहन	मुंबई	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

क्र.सं.	नाम	निवासी	अलंकरण
122.	स्व. मनोहरदेवी परमार	मुंबई	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
123.	स्व. मूलीदेवी ढेलड़िया	मुंबई	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
124.	श्रीमती झमकूदेवी कुहाड़	मोमासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
125.	स्व. इलायचीदेवी सेठिया	मोमासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
126.	श्रीमती कमलादेवी आंचलिया	रतनगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
127.	श्रीमती डालीबाई गोलछा	रतनगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
128.	श्रीमती मोहनीदेवी तातेड़	रतनगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
129.	श्रीमती सोहनीदेवी दूगड़	रतनगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
130.	श्रीमती घीसीदेवी लोढ़ा	रायपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
131.	श्रीमती माणकदेवी गादिया	रायपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
132.	श्रीमती सुदर्शनादेवी श्रीश्रीमाल	रायपुर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
133.	श्रीमती किरणदेवी खटेड़	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
134.	श्रीमती रायकंवरीदेवी सिंघी	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
135.	श्रीमती फूलदेवी लुणिया	शिलोंग	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
136.	श्रीमती रतनीदेवी पुगलिया	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
137.	श्रीमती नेमकंवर श्यामसुखा	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
138.	श्रीमती भीखीदेवी पुगलिया	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
139.	श्रीमती मैनादेवी श्यामसुखा	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
140.	श्रीमती रतनीदेवी भादानी	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
141.	स्व. सद्दादेवी जैन	संगरूर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
142.	स्व. धापूदेवी दफ्तरी	सरदारशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
143.	स्व. लक्ष्मीदेवी गुजरानी	सरदारशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
144.	स्व. लक्ष्मीदेवी दूगड़	सरदारशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
145.	श्रीमती उमरावदेवी बैंगानी	सुजानगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
146.	श्रीमती रायकंवरीदेवी फूलफगर	सुजानगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
147.	स्व. लक्ष्मीदेवी नाहटा	सुजानगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
148.	श्रीमती सायरदेवी सेठिया		श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
149.	श्रीमती सुंदरदेवी सेठिया	मोमासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
150.	श्रीमती पवनदेवी जूनीवाल	जयपुर	तत्त्वज्ञ श्राविका
151.	श्रीमती खंभादेवी चोपड़ा	बालोतरा	तत्त्वज्ञ श्राविका

इस विषय में अधिक जानकारी हेतु संपर्क करें—

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

फोन नं. (033) 22357956, 22343598 • फैक्स नं. (033) 22343666, मोबाइल नंबर : 9831218218

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

जैन भारती, जनवरी, 2006 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/00/06-08
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Pigeon™

Top Quality
Unbeatable Price

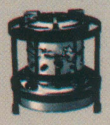
Wick Stove

Solo

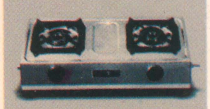
Cute

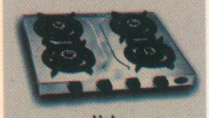
Hob

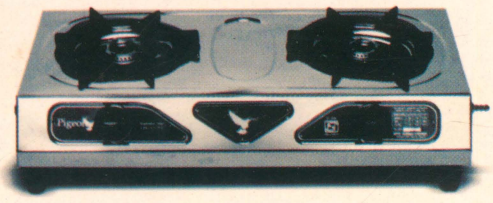
Duo (Two Burner)

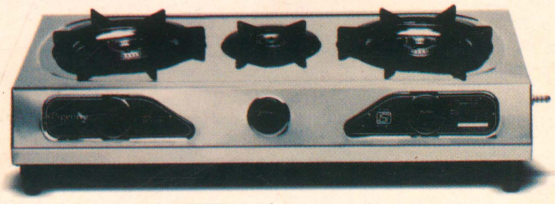
Trio (Three Burner)

IS : 4246
CM/L 6231958

Junior
SS Pressure Pan WOL

Junior
SS Pressure Pan WL

Senior
SS Pressure Pan WOL

Senior
SS Pressure Pan WL

3 Ltr. SS

7.5 Ltr. SS

10 Ltr. SS

12 Ltr. SS

Chefmate

750 watts
High power motor

Stovekraft Pvt. Ltd.
58/2, Chickalasandra Subramanyapura Road, Bangalore 560061 INDIA
PH : (080) 26663256, 26665319, 26662861 Fax : (080) 26669555
Email : Vardhman@bgl.vsnl.net.in Website : www.vardhmanenterprises.com

A quality product of Stovekraft

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।